दीप जलेगा

तथा

दूसरी कविताएँ

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन गृह

प्रयाग

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह
५, खुसरो बाग़ रोड
इलाहाबाद

मूल्य ३॥)

मुद्रक
पं० हरप्रसाद बाजपेयी
कृष्ण प्रेस,
२६, हिवेट रोड
इलाहाबाद

पन्द्रह वर्ष की मीठी कड़ुवी
स्मृतियों के नाम

क्रम

ःर्म्मियां

क्रम

दीप जलेगा

बुझते दीप से जलते दीप तक

दीप जलेगा में अश्क जी की आज तक लिखी लगभग सभी कविताएँ (*बरगद की बेटी* और उनकी नयी कविता को छोड़कर) संग्रहीत हैं। 'बरगद की बेटी' तो खंड-काव्य ही है और अलग से छप गया है। नयी कविता न केवल अभी अपूर्ण है, वरन् उसका नाम भी अभी तक अश्क जी तय नहीं कर पाये। यों भी वह बहुत लम्बी है और सोचती हूँ कि उसे अलग ही प्रकाशित किया जाय!

अश्क जी मूलतः कवि हैं, कथा लेखक हैं, अथवा नाटक कार? इस सम्बन्ध में पाठकों तथा आलोचकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। अपने एक लेख में श्री गिरजा कुमार माथुर ने लिखा है, "*अश्क जी कथाकार और उपन्यासकार से पहले कवि हैं और काव्य की आधार-भूमि पर ही उन्होंने विभिन्न कला-पथ बनाये हैं।*" उर्दू में उनके नाटक संग्रह "अज़ली रास्ते" की समालोचना करते हुए एक आलोचक ने लिखा कि अश्क का जौहर (प्रतिभा) बुनियादी तौर पर ड्रामानिगार का है और

उसकी बेश्तर कहानियों का अंदाज़ भी ड्रामाई है। रहा अश्क जी का कथाकार, तो जो पाठक उनकी कहानियाँ पसंद करते हैं, वे उनके नाटक अथवा कविताएँ पढ़ना ही नहीं चाहते। लेकिन जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैंने पहले पहल अश्क जी को एक कवि के ही रूप में जाना।

हम बी० ए० में पढ़ते थे, जब मेरी सहेली पुष्पा ने मुझे हिन्दी मिलाप में अश्क जी की पहली कविता दिखायी। मुझे याद नहीं कि वह 'विदा' थी या 'सूनी घड़ियों में' या 'स्वप्नों का जागरन' (क्योंकि अपने प्रभाव में 'प्रात-प्रदीप' की—प्रात-प्रदीप ही इस संग्रह का प्रातः दीप है—सभी कविताएँ एक जैसी हैं।) इतना स्मरण है कि वह कविता हमें बहुत अच्छी लगी थी। उसका दर्द हृदय को कुछ इस प्रकार छूता था कि हमने उसे बार-बार पढ़ा था। इसके बाद हम हिन्दी मिलाप के संडे एडीशन बराबर पढ़ती रहीं। अश्क जी की जो कविताएँ उनमें छपीं, वे हमने काटकर रख लीं। अब भी कहीं काग़ज़-पत्रों की छान-बीन करें तो उनका कोई न कोई *Cutting* मिल जाय!

कालेज के दिन कुछ अजीब से अरमान भरे दिन होते हैं। उर्दू की प्रसिद्ध कहानी लेखिका 'इस्मत' ने उर्दू-कवि 'मजाज़' के रेखा-चित्र में, अपनी व्यंग्य-पूर्ण शैली में कालेज के उन दिनों का वर्णन किया है—किस प्रकार जब साँझ के साये गहरे होते हैं, लड़कियाँ अपनी-अपनी पसंद की कविताओं को गुनगुनाती, आहें भरती और आँसू बहाती हैं। अश्क जी की उन कविताओं पर हमने 'इस्मत' की सहेलियों की भाँति 'टसवे बहाये' कि नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकती, पर वे हमें पसंद बहुत थीं।

बुझते दीप से जलते दीप तक

वे कविताएँ मुझे आज भी कम पसंद नहीं, पर अश्क जी के मन से वे आज उतर चुकी हैं। आज ही क्यों, लगता है बहुत दिनों से उतर चुकी हैं, क्योंकि बारह वर्ष होने को आये हैं, पर अश्क जी ने प्रात-प्रदीप का (जिसमें वे कविताएँ १६३८ में पहले पहल छपीं) द्वितीय संस्करण करने की बात नहीं सोची। पिछले दिनों जब मैंने प्रकाशन आरम्भ किया और 'प्रात-प्रदीप' के पुनर्मुद्रण की बात कही तो वे कलम उठा कर लगे उनका सुधार करने। इधर-उधर कुछ पंक्तियाँ बदलीं; 'प्रात-प्रदीप' का नाम 'प्रात: दीप' कर दिया और संग्रह की एक प्रति उनके बैग में कई दिन तक पड़ी रही। आखिर हार कर उन्होंने एक दिन किताब पटक दी और बोले—'हटाओ जी ये कविताएँ आज छपने योग्य नहीं!'

यही हाल 'ऊर्म्मियाँ' का है। कुछ कविताओं के अतिरिक्त, वह संग्रह भी उनके मन से उतर चुका है। उन्हें तो बस 'दीप जलेगा' पसन्द है। नयी कविता पूरी हो जाने पर भी 'दीप जलेगा' उन्हें उतनी अच्छी लगेगी, इसमें मुझे संदेह है।

मैं ने प्रस्तुत संग्रह में न केवल 'प्रात-प्रदीप' तथा 'ऊर्म्मियाँ' की सभी कविताएँ संकलित कर दी हैं, वरन् दिल्ली के दिनों की लिखी एक दो भूली-भटकी कविताएँ भी, क्योंकि मैं किसी विद्वान के इस कथन पर विश्वास करती हूँ कि लेखक की बात पर विश्वास न करो, उसकी रचना को देखो!

के दिनों में ही ग़ज़ल लिखना छोड़ कर कहानी लिखने लगे थे। अपने उन आरम्भिक प्रयासों के सम्बन्ध में बड़ा ही मनोरंजक लेख उन्होंने अपनी कहानियों और संस्मरणों के नये संग्रह "काले साहब"* में लिखा है। वे कदाचित कभी कविता न लिखते, यदि उन्हें १६३६ में अपनी पहली पत्नी की बीमारी तथा मृत्यु से दो चार न होना पड़ता। वे डेढ़ पौने दो वर्ष यक्ष्मा से पीड़ित रहीं। अश्क जी लॉ-कालेज में पढ़ते थे, ट्यूशन करते थे, समाचार पत्र† के साप्ताहिक संस्करण में ५) पर एक कहानी भी लिखते थे और उनका इलाज-उपचार भी करते थे। यक्ष्मा जैसे रोग में उस साधन-हीन-अवस्था में, विशेष कर पन्द्रह वर्ष पहले, उन्हें आराम तो क्या आता, पर अश्क जी ने भरसक प्रयास किया, उन्हें गुलाब देवी टी० बी० सेनेटोरियम में भी सात महीने रखा और जहाँ उनके मुहल्ले में टी० बी० से पीड़ित रोगी चार, पाँच महीने में चल बसते हैं, वे उनकी बीमारी को पौने दो वर्ष तक घसीट ले गये। लॉ करने के बाद उन्होंने अपनी पत्नी को धर्मशाला ले जाने का प्रबन्ध किया। वहाँ रुग्ना को पहाड़ी पेचिश हो गयी। फिर जालंधर लौटे। किन्तु पैसे की तंगी थी, इलाज तो दूर रहा, उसकी छोटी-मोटी इच्छाएँ भी पूरी न कर सकते थे। विवश लाहौर जाकर नौकरी करने लगे। उन दिनों की अनुभूतियाँ उनके कहानी-संग्रह 'पिंजरा' ‡ की अधिकांश कहानियों में सँजोयी पड़ी हैं।

लाहौर से अश्कजी नियमित रूप से हर पखवाड़े जालंधर उन्हें देखने

---

* नीलाभ प्रकाशन गृह से प्रकाशित! † 'भारत माता' लहौर जो चुनाव के ज़माने में निकला था। ‡ नीलाभ-प्रकाशन द्वारा प्रकाशित।

आते। कहते हैं कि उनकी मृत्यु के चार दिन पहले जालंधर ही में थे। रात दस बजे की गाड़ी में चल कर एक डेढ़ बजे जालंधर पहुँचा करते थे। उस रात गाड़ी कुछ लेट हो गयी और वे दो अढ़ाई बजे घर पहुँचे। बीमार को जगाना उचित न समझ, नीचे सोने चले गये। सुबह ऊपर जाकर देखा—"उम्मा का दोहरा शरीर कंकाल-मात्र रह गया था, गोल गोल गाल पिचक गये थे, जबड़ों की हड्डियाँ उभर आयी थीं, हाँ दांत वही थे—मोतियों से श्वेत दांत"—तब उन्हें लगा कि यह तो 'चिराग़े सहरी' † है। तेल खत्म हो गया है, बत्ती जल गयी है, किसी क्षण बुझ जायगा। अश्क जी उदास हो गये तो वे अपने सरल-स्वभाव से हँस दीं। न जाने वह हँसी कैसी थी। अश्कजी की आँखों में आंसू आगये। कमरे से निकले तो उनका मन इतना उद्वेलित था कि अनायास कविता में फूट पड़ा। पहले उन्हों ने उर्दू में एक ग़ज़ल लिखीः

'इश्क और वो इश्क की जांबाज़ियां,
हुस्न और ये हुस्न की दम साज़ियां
वक्ते-आख़िर है, तसल्ली हो चुकी
आज तो रहने दो हेलाबाज़ियां
ग़ैर हालत है तेरे बीमार की
अब करेगी मौत चारासाज़ियां
'अश्क' क्या मालूम था, रँग लायेंगी
यों तबीयत की तेरी नासाज़ियां

---

† चिराग़े सहरी = प्रातः दीप

किन्तु भावनाओं की तब कुछ ऐसी शिद्दत थी कि ग़ज़ल का कलेवर उनके लिए सर्वथा सीमित और अनुपयुक्त लगा। तब हिन्दी में गुनगुनाने लगे। लाहौर पहुँचते पहुँचते पहली कविता 'प्रात-प्रदीप' पूरी हो चुकी थी। हिंदी छंदों से अधिक परिचय न होने के कारण अश्कजी ने पन्द्रह बीस कविताएँ उसी एक छंद में लिख डालीं। श्री धर्म प्रकाश आनंद ने बाद में पुस्तक की भूमिका लिखी। पहली कविता 'प्रात-प्रदीप' के सम्बंध में उन्हों ने लिखा।

"प्रात-प्रदीप का आधार भूत विचार उर्दू का है। उर्दू का 'चिराग़े सहरी' ही अश्क के यहाँ 'प्रात-प्रदीप' बन गया है। यह नाम अत्यंत सांकेतिक है और पुस्तक की पहली कविता, जिससे यह नाम लिया गया है सारी की सारी एक रूपक है।

'चिराग़े सहरी' उर्दू में उस दीपक को कहते हैं जो संध्या को किसी क़ब्र पर जला दिया जाता है और सारी रात—

तिल तिल जला जला निज उर को

प्रातःकाल बुझ जाता है।"

लाहौर पहुँचने के तीसरे दिन ही अश्क जी को तार मिला कि उनकी पत्नी का देहावसान हो गया है। 'प्रात-प्रदीप' के बाद अश्कजी उसी मूड में 'विदा' लिखने लगे थे। अपनी पत्नी की मृत्यु तो उन्हें सामने दिखायी ही देती थी। 'विदा' के बाद उन्हों ने 'सूनी घड़ियों में' 'स्वप्नों का जागरन' आदि कविताएँ लिख डालीं और उस समय तक निरंतर लिखते गये जब तक उनका वह मूड समाप्त नहीं हो गया। 'प्रातः

दीप' में यों तो पन्द्रह कविताएँ हैं, पर यदि आधार-भूत-मूड को लिया जाय तो यह सारे का सारा संग्रह एक लम्बी कविता दिखायी देगा।

लिखने के क्रम में 'विदा' चाहे दूसरी कविता है, पर किसी पत्र-पत्रिका में छपने के क्रम में पहली है। अश्कजी की वह पहली हिन्दी कविता है जो किसी प्रमुख हिंदी पत्र में छपी और क्योंकि उसमें भावनाओं के व्यक्तिकरण में एक खरापन (*authenticity*) थी, इसलिए बहुत लोकप्रिय हुई।

हुआ यों कि वह कविता लिखकर अश्क जी ने योंही पंडित बनारसी दास जी चतुर्वेदी को भेज दी। (उनसे लाहौर में परिचय हो गया था और पत्र-व्यवहार तो पहले से था।) चतुर्वेदी जी को यद्यपि अश्क जी की एक भी कहानी पसंद न आयी थी, पर वह कविता उन्हें इतनी अच्छी लगी कि उन्हों ने न केवल उसे छापने का अनुरोध किया, बल्कि उसकी एक नकल श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी को भेज दी। अश्क जी ने हिंदी में कभी कविता लिखी न थी। उन्हों ने चतुर्वेदी जी को लिखा कि उसमें कोई त्रुटि न हो। चतुर्वेदी जी ने उत्तर दिया कि मुझे तो इसमें कोई त्रुटि दिखायी नहीं देती। आपकी अनुमति हो तो इसे छाप दूँ।

और उन्हों ने विशाल भारत के उसी अंक में (जो कदाचित अधिकांश प्रेस में जा चुका था) पिछले पृष्ठों पर वह कविता छाप दी। अश्क जी समझते थे कि कविता पृष्ठ डेढ़ पृष्ठ पर शान से छपेगी, इसलिए उसे उस प्रकार दबी सिमटी अवस्था में पिछले पृष्ठों पर छपी देख कर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई! पर जब कुछ ही दिन बाद चतुर्वेदी जी ने लिखा कि कविता बेहद पसंद की गयी है और कानपुर से हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्री०

बालकृष्ण शर्मा नवीन ने उन्हें कविता की प्रशंसा में पत्र लिखा है तो अश्क जी के आँसू पुँछ गये। नवीन जी ने, लगता है, कविता पढ़ते ही जो भी काग़ज़ सामने पड़ा, उस पर कविता की प्रशंसा लिख कर विशाल भारत के सहकारी-सम्पादक स्व० ब्रज मोहन वर्मा को भेज दी। वह पत्र बाद में चतुर्वेदी जी ने अश्क जी को भेज दिया। किसी मित्र के आये हुए पत्र की पिछली ओर नवीन जी ने ये चंद पंक्तियां घसीट दीं।

प्रताप
१८।२।३७

प्रियवर

कोई दूसरा काग़ज़ नहीं था पास में सो इसी पर लिख रहा हूँ। जनवरी के विशाल भारत में श्री उपेन्द्रनाथ अश्क की कविता पढ़ी। आत्मा को सुख मिला, टीस मिली, हसरत मिली, राहत मिली। क्या आप उपेन्द्रनाथ जी तक मेरी सजल-नयना कृतज्ञता पहुँचाने का अनुग्रह करेंगे। मैं तो कविता पढ़कर गद्‌गद् हो गया।

जड़ता गति होकर बह निकली।

क्या बात कही है। मेरे सहस्रशः साधुवाद श्री उपेन्द्रनाथ जी को।

आपका अपना
बालकृष्ण शर्मा नवीन

यही नहीं श्री माखन लाल जी ने कविता को पढ़ कर लिखा कि 'विदा' को पढ़ कर उन्हें अपना बाइस वर्ष पुराना दुख याद हो आया।

अश्क जी का उत्साह बढ़ा उन्हों ने दूसरी कविताएँ भी वि० भारत में भेजीं। तीसरी कविता 'नाविक से'—चतुर्वेदी जी को इतनी पसंद आयी कि उन्हों ने उसे अपने कथनानुसार *Place of honour* देते हुए विशाल भारत के मुख पृष्ठ पर छापा।

अश्क जी के पास तब अपनी पुस्तकों को, विशेषकर हिन्दी में, छपवाने के साधन न थे। 'प्रात-प्रदीप' उनकी एक प्रशंसका ने छपवा दी थी। हिंदी जगत ने उसका समुचित समादर किया। कोई नया कवि (अश्क जी कहानी लेखक चाहे पुराने हों, पर कवि तो नये ही थे) उस से अधिक की आशा नहीं रख सकता। प्रात-प्रदीप की सीधी सरल भाषा और अनायासता की प्रशंसा सभी पाठकों और आलोचकों ने की। स्व० ब्रज मोहन वर्मा ने अपने ७।७।३७ के पत्र में 'सूनी घड़ियों में' की प्रशंसा करते हुए लिखा।

> "आपकी कविताएँ बहुत साफ़ होती हैं। उन में वह क्लिष्टता और अस्पष्टता नहीं होती, जो आज कल के बहुतेरे हिन्दी कवियों की *Chronic* बीमारी बन गयी है। *Apart from their intrinsic value* मुझे आपकी कविताओं की यह विशेषता बहुत रूचिकर मालूम होती है कि हफ़ीज़ के गीतों की तरह वे गायी भी जा सकती हैं। हिन्दी की आधुनिक कविताओं में यह विशेषता मुश्किल से मिलती है।"

एक पूरी फाइल 'प्रात-प्रदीप' की समालोचनाओं और प्रशंसा-पत्रों से भरी पड़ी है। (अश्क जी जब तक स्वस्थ रहे अपने पत्रों, समा-

लोचनाओं और दूसरी कृतियों की फाइलें दफ़्तरी व्यवस्था के साथ रखते रहे। इधर बीमारी के बाद सब कुछ ढीला हो गया है।) इन पत्रों में चतुर्वेदी जी, वर्मा जी, श्री नवीन, तथा श्री० माखनलाल जी चतुर्वेदी के अतिरिक्त श्री० किशोरलाल घ० मश्रुवाला, श्रीमती कमला चौधरी, श्रीमती ऊषादेवी मित्रा, और श्रीमती सत्यवती मल्लिक के भी पत्र हैं।

आलोचनाओं में डी० ए० वी० कालेज लाहौर के अंग्रेजी अध्यापक तथा प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य लेखक प्रो० कन्हैया लाल कपूर तथा विप्लव के यशस्वी सम्पादक और हिन्दी के प्रमुख कहानी लेखक श्री यशपाल की आलोचनाओं से कुछ उद्धरण देती हूँ।

प्रो० कपूर ने ट्रिब्यून लाहौर में लिखा

The versatility of Mr. Upendra Nath Ashk is astonishing. He has already made his mark as a first rate story- writer and playwright and now on the top of it all, comes this volume of lyrics entitled "Prat-Pradip", about a dozen and a half poems, inspired by the memory of his wife's death and therefore confessedly personal. They seem to contain the very quintessence of romantic lyricism. A delicious sadness—almost Shelleyan—emanates from everyone of these poems. The personal sorrow merges imperceptibly into the Universal tragedy and the poet's grief becomes the reader's. For sheer spontaneity, verbal music, pathetic wistfulness, romantic sensibility and tragic poignancy, these poems have few equals.

बुझते दीप से जलते दीप तक

यशपाल जी ने 'विप्लव' में लिखा :—

> "प्रात-प्रदीप अश्क जी की कविताओं का संग्रह है। कविताएँ एक चुभती स्मृति को लेकर लिखी गयी हैं। वे आँसुओं का हार हैं जो प्रातः कालीन टिमटिमाते प्रदीप को अर्पण किया गया है। कविताएँ आडम्बर-शून्य और मार्मिक हैं। वे केवल पद्य नहीं, कविता हैं। उन्हें पढ़ कर झूमा जा सकता है।"

अश्क जी, जैसा कि मैं गत आठ वर्ष में जान पायी हूँ, कविता उसी समय लिखते हैं, जब वे कुछ और करने के योग्य नहीं रहते। ऊर्म्मियाँ की अधिकांश कविताएँ भी अश्क जी ने कुछ इसी प्रकार की विवशता में लिखी हैं। १६३७ के सितम्बर में उन्होंने लाहौर छोड़ा तो उनकी मानसिक दशा कुछ बहुत अच्छी न थी। सोच तो रहे थे वर्धा जाने की, काका साहब कालेलकर का निमन्त्रण भी था, पर चले गये मध्य पंजाब के गाँवों में बसने वाली एक आधुनिक कालोनी "प्रीत-नगर" में !

अश्क जी ने लाहौर तो छोड़ दिया पर कई तरह की स्मृतियाँ उनके पीछे पीछे प्रीत-नगर तक चली गयीं—'आज मेरे आँसुओं में याद किस की मुस्करायी'; 'था एक दिवस उर मेरा' और कई दूसरी कविताएँ लाहौर ही के जीवन से सम्बंधित हैं। पर शीघ्र ही प्रीत नगर ने अपने सुन्दर, सुरम्य वातावरण से उनको जैसे अपने में समो लिया—वे खुले खुले निर्जन वीरानें; वे टेढ़ी मेढ़ी राहें, वे जंड और बबूल की झाड़ियाँ; वे रजबहे; वे धूल से पाक चाँदनी रातें; और वे उजली धुली अथवा कोहरे

में लिपटी, सिमटी, सिकुड़ी धुँधियाली सुबहें—सब उनकी कविता में मुखरित हो उठीं। कुछ 'बरगद की बेटी' का अंग बनीं और कुछ 'ऊर्म्मियाँ' की कविताओं का—'चाँदनी रात', 'शीतकाल की प्रातः' तथा 'नीम से' आदि उन्हीं दिनों की याद हैं।

१६४० की गर्मियों में अश्क जी की आँखें खराब हो गयीं और वे महीना भर अपने कमरे में किवाड़ लगा, पर्दे चढ़ा कर, लेटे रहने को विवश हो गये। मन उन्हों ने बड़ा चंचल पाया है। कुछ न कुछ करते रहना उनके स्वभाव का अंग है। व्यर्थ की बातें सोचने के बदले, वे कहते हैं कि उन्हों ने मन को लाभदायक-चिन्तन *(Useful Thinking)* की ट्रेनिंग दे रखी है। जो भी हो, उन पन्द्रह बीस दिनों में उन्हों ने सात आठ कविताएँ लिख डालीं और यों ऊर्म्मियाँ का संग्रह तैयार हो गया।

'अश्क जी और उनकी कविता' नामक अपने लेख में श्री गिरजा-कुमार माथुर ने लिखा :

> 'प्रात-प्रदीप' से 'ऊर्म्मियाँ' तक आते आते भाषा, भाव और व्यंजना में एक परिवर्तन आ जाता है। कवि के दृष्टि-कोण में जो नैराश्य-भावना पहले प्रधान थी, ऊर्म्मियाँ में आकर उसमें एक रुखाई, एक कटुता आ जाती है, क्योंकि कवि निराशा की प्रथम रंगीनियों से निकल कर यथार्थ के अधिक तीव्र प्रकाश में आ जाता है। इस अर्थ में 'ऊर्म्मियाँ' की कविताएँ 'प्रात-प्रदीप' से भिन्न हैं। उनके

स्वरूप में एक रूखापन है, एक निराशा-जन्य सुनसान है, एक व्यंग है, क्योंकि कवि के जीवन में कष्टों का वातावरण अब स्थिर हो चुका है। 'प्रात-प्रदीप' की कविताओं में इसी निराशा से कवि का हृदय चंचल भी होता है और रो भी उठता है। कष्ट सहन उसका स्वभाव नहीं, इस लिए वह उस से दूर भी भागता है। 'प्रात-प्रदीप' का निराशावाद कवि के जीवन का एक नवागत रूप है, 'ऊर्म्मियाँ' की भाँति उसका धर्म नहीं बना। 'ऊर्म्मियाँ' में कवि इस निराशा-जन्य वातावरण से सदा के लिए समझौता कर लेता है। इसी कारण 'ऊर्म्मियाँ' की कविताओं में पीड़ा की भावना दबी हुई दृष्टि-गोचर होती है, 'प्रात-प्रदीप' की भाँति ज्वार भाटे जैसी ऊपर उभर कर नहीं आती और निराशा जीवन की पृष्ठ-भूमि बन जाती है, केन्द्रीय विषय नहीं। 'ऊर्म्मियाँ' की कविताएँ निराशा की इसी पृष्ठ-भूमि पर लिखी गयी हैं और मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह पृष्ठ-भूमि 'प्रात-प्रदीप' ही ने 'ऊर्म्मियाँ' के कवि को दी है।"

मैं ने 'ऊर्म्मियाँ' की कविताएँ न केवल पढ़ी हैं, वरन् प्रीत नगर ही में, जहाँ वे लिखी गयी थीं, सुनी भी हैं। मैं केवल इतना कहना चाहती हूँ कि श्री माथुर ने 'ऊर्म्मियाँ' का केवल एक ही रूप अपने सामने रखा है और केवल कवि की निराशा के विकास पर ही ध्यान दिया है। 'प्रात-प्रदीप' की अंतिम कविता में कवि ने जिस आशा का अंचल थामा

है, उसका विकास ऊर्म्मियां में जैसे हुआ, उस ओर ध्यान नहीं दिया।

वास्तव में ऊर्म्मियाँ में तीन तरह की कविताएँ हैं। कुछ तो ऐसी हैं, जिन में अतीत की गूंज है। अतीतकी गूंज है, इसलिए अतीत के दुख और निराशा की गूंज भी है और क्योंकि काल के अदृश्य हथौड़े ने इस निराशा की धार को कुंद कर दिया है 'इसी लिए ऊर्म्मियां की कविताओं में पीड़ा की भावना दबी हुई दृष्टि-गोचर होती है'। पीड़ा का यह 'दबा-दबापन' इसलिए नहीं है 'कि कवि ने पीड़ा से सदा के लिए समझौता कर लिया है', बल्कि इस लिए है कि उसका मस्तिष्क अपेक्षाकृत प्रौढ़ हो गया है। वह अपने आपको पहाड़ों में उछलता कूदता नाला नहीं, वरन् लूट लुटाकर बहने वाला 'दरिया' समझता है। किन्तु दरिया बेजान होगया हो, ऐसी बात नहीं। उद्भ्रांत चाहे हो, बेजान नहीं। फिर से उसी प्रकार बहने की इच्छा उसमें है। इसी लिए ज़िंदगी जब प्रेयसि के रूप में उससे मिलती है तो वह उससे पूछता है :

मुझे बहाओगी क्या ?
मुझे जिलाओगी क्या ?
साथ उड़ाओगी क्या ?

यदि वह ऐसा निराश हो जाता तो अपने भविष्य के सम्बंध में कभी न लिखता :

"क्यों छोड़ूं फिर मैं भी सखि
नित नूतन जगत बनाना ?
यह लाख बार बुझ जाये
क्यों छोड़ूं दीप जलाना ?

दूसरे प्रकार की कविताएँ नये जीवन के प्रति उसकी आशा, उसके स्वागत की द्योतक हैं, जब वह उस नये जीवन के स्वागत में गा उठता है :

उठा रे कवि भावों की वीण
ढाल स्वर आतुर मदिर नवीन
और फिर होकर उनमें लीन
छेड़ दे एक नयी झंकार
शिथिलता छोड़, छेड़ दे तार
स्वरों में हृदय, हृदय में प्यार
प्यार में भर संचित उद्गार
और उद्गारों में भर साध
और फिर उसमें आश अगाध

निराशा से सदा के लिए समझौता करने वाला 'अगाध आशा' कैसे रख सकता है ?

तीसरी प्रकार की कविताएँ स्वन्त्र हैं। 'प्रात प्रदीप' को पढ़ कर वर्धा से श्री किशोर लाल घ० मश्रुवाला ने लिखा था। "*आशा है अब आप शान्त हो गये होंगे और अपने दुख को भूल कर आपने दूसरों के दुखों में हिस्सा लेना सीख लिया होगा।*" इन तीसरी प्रकार की अधिकांश कविताओं में दूसरों के दुख के प्रति जागरूकता स्पष्ट लक्षित है। कवि अपने ही दुख में मस्त नहीं। दूसरों के दुखों को भी देखता है

'तुम कहते हो आज दुखी मैं'; 'भीगी है रात अँधेरी'; 'शीतकाल की प्रात:' आदि ऐसी कविताएँ हैं।

इन स्वतन्त्र कविताओं में कुछ ऐसी भी हैं जो कवि के क्षणिक *Moods* (मनोभावों) का चित्रण भर हैं।

'ऊर्म्मियाँ' के पश्चात् अश्क जी ने तीन चार वर्ष तक कोई कविता नहीं लिखी। आल इंडिया रेडियो और फिर बम्बई के फ़िलमिस्तान में काम करते रहे। इस बीच में उन्होंने एकांकी लिखे, 'गिरती दीवारें' को पूरा किया; कुछ कहानियाँ भी लिखीं, पर कविता एक नहीं लिखी।

१९४६ के दिसम्बर में अश्क जी बीमार पड़ गये। अस्पताल में थे जब डाक्टरों ने बताया कि उन्हें यक्ष्मा है। यक्ष्मा है—आज हम यह बात बड़ी सुगमता से कह लेते हैं, पर इस सूचना के प्रथम आघात की कल्पना केवल भुक्त-भोगी ही कर सकते हैं। मुझे अश्क जी से पहले पता चल गया था। शाम को मैं उनसे रोज़ की तरह मिलने गयी तो मैंने उन्हें यह नहीं बताया। पर जाने मेरे व्यवहार में कुछ असाधारणता थी, अथवा कहीं मेरा स्वर कांपा अथवा मैंने उन्हें 'पंचगनी' ले जाने की बात कही, इसलिए वे कुछ भांप गये। मेरे जाने के बाद जब डाक्टर अपने राउंड पर आया तो उन्होंने उससे पता चला लिया। दूसरे दिन मैं उनसे मिलने गयी तो उन्होंने मुझे 'दीप जलेगा' के पहले कुछ चरण सुनाये।

अस्पताल से हम अश्क जी को घर ले आये। डाक्टरों ने पूर्ण-विश्राम

का आदेश दिया था। हमने उन्हें एक कमरे में लिटा दिया। पास में एक घंटी रख दी कि किसी चीज़ की आवश्यकता हो तो उसे बजा दें। बातें करने की उन की आदत है। सोचा कि कोई पास न होगा न बात करेंगे।

अश्क जी चुप चाप लेटे रहते और मन ही मन कविता पूरी करते। दिन भर में जो सोचते वह शाम को अपने छोटे भाई को लिखा देते।

मैंने दो एक बार टोका तो बोले। "दिमाग़ को कैसे शून्य रखा जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। यह ऋषि मुनियों के वश की बात है मेरे वश की नहीं। मृत्यु की बात सोचने से क्या यह अच्छा नहीं कि मैं जीवन की बात सोचूँ।"

बिल्कुल यही बात कही हो, यह तो मैं नहीं कह सकती, पर कुछ ऐसी ही बात कही। मैं क्या उत्तर देती, चुप हो रही। बाइस तेइस दिनों में लेटे-लेटे उन्होंने 'दीप जलेगा' समाप्त कर दी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अश्क जी को कविता की प्रेरणा अपनी व्यक्ति-गत स्थिति के कारण मिली, पर अपने प्रभाव में कविता व्यक्ति-गत नहीं रही, बल्कि सार्वजनीन हो गयी है। अश्क जी उन दिनों 'चैख़ोव' की जीवनी पढ़ रहे थे। किस प्रकार चैख़ोव यक्ष्मा से रोगी होते हुए भी अपनी क्षीण शक्ति के बावजूद नाटक लिखते रहे, इस बात का अश्क जी पर बड़ा प्रभाव पड़ा और जब उन्होंने लिखा :

दीप जलेगा

नहीं आज ही केवल हमने दीपक बाले
नहीं आज ही केवल हम इस अंधकार से लड़ने वाले
हम से पहले पूर्वजों ने—
जब-जब अंधकार ने लेकर
अपना दल बल, घेरे डेरेडाले—
दीपक बाले !

तो कवि के पूर्वजों में वे समस्त लेखक, कवि, कलाकार और योद्धा आ जाते हैं, जो अंतिम सांस तक अंधकार की शक्तियों के विरुद्ध लड़ते रहे। फिर चाहे वे चैखोव और गोर्की हों अथवा प्रेमचंद और प्रसाद !

और जब उन्होंने लिखा :

'औ' जब समय तुम्हारा आये
अंधकार दिशि से दिशि से घिर कर
पल में तुम्हें लीलना चाहे
इस बालक को
दीपक देकर
अंधकार से लड़ने के सब भेद बताना
समरांगण की राह दिखाना।

तो कवि का सम्बोधन किसी एक स्त्री से नहीं, अंधकार की शक्तियों से लड़ने वाले प्रत्येक योद्धा की संगिनि से है।

'दीप जलेगा' हंस में छपने के बाद कई पत्र-पत्रिकाओं में उद्धृत हो चुकी है। आल इंडिया रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से ब्राडकास्ट हो चुकी

है। स्व० सरोजिनी नायडू से लेकर प्रसिद्ध प्रगतिशीलकविश्रीनागार्जुन तक हिन्दी उर्दू के कवियों ने इसे सराहा है। मैं इसके सम्बन्ध में और कुछ न लिख कर 'जनवाणी' बनारस के सम्पादक श्री बैज नाथ सिंह विनोद का एक पत्र उद्धृत करती हूँ जो उन्होंने 'हंस' में कविता पढ़ कर श्री अमृत राय जी को दिया और उनके द्वारा अश्क जी तक पहुँचा।

काशी विद्यापीठ
बनारस कैंट
१ अगस्त १९४७

प्रिय उपेन्द्रनाथ जी अश्क

नमस्कार!

आप से मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं। पर हिन्दी साहित्य के अध्येयता के नाते आपका परिचय मुझे है।

आपकी कविता 'दीप जलेगा' हंस में पढ़ गया। इस कविता के भाव-सौन्दर्य की प्रशंसा किन शब्दों में करूँ?

सामने खड़ी मृत्यु को देख कर भी आपने उस पर जीवन की जय की जो कल्पना की है, वह प्राचीन हो कर भी नवीन हो उठी है। प्राचीनों ने उसके अपार्थिव रूप को देखना चाहा। आपने उसे आज की विचार-धारा में रख दिया—ऐसी विचार धारा में, जिसे जन-गण समझ सके, जिसे जन गण मान सके और जिससे जन गण शक्ति प्राप्त कर सके।

किन्तु मैं 'कल्पना' कह गया। यह कल्पना नहीं, समाज का वैज्ञानिक सत्य भी है। अमरता की पारलौकिक कल्पना स्थिति-शील समाज की संरक्षिका है; पर यह अमरता—लौकिक अमरता— पिता पुत्र में अमर होती है (शायद ऐसी बात उपनिषद में भी है) समाज को यह अमरता आगे बढ़ाने वाली है। आज का सत्य, आज का मंगल इसी में है।

तुम्हारा
विनोद

अश्क जी का स्वास्थ्य इधर तीन चार महीने से फिर गड़बड़ है। बीच में कुछ दिन ठीक रहे, फिर अस्वस्थ हो गये। इस संग्रह की भूमिका मैं चाहती थी वे ही लिखें, पर ऐसा सम्भव न जान कर कुछ उनकी पुस्तकों की भूमिकाओं, कुछ लेखों, कुछ समालोचनाओं और कुछ पत्रों की सहायता से मैंने ही ये चन्द पृष्ठ रंग दिये हैं। कविताओं की विवेचना तो नहीं, पर उनके सम्बन्ध में संस्मरणात्मक जानकारी पाठकों को अवश्य मिलेगी। कविता का रस तो मैं ले सकती हूँ उसकी विवेचना के योग्य मैं नहीं।

कौशल्या अश्क



अश्क जी १६३७

प्रात: दीप

१६३६ से १६३७ तक की कविताएँ

स्वर्ग-गता शीला को

दिल ने कहा—दो फूल न लाये पागल प्रिय की समाधि पर चढ़ाने !

आँखें बोल उठीं—फूल ! हम हार पिरो देंगी !

प्रातः दीप

प्राची की पलकों में जागा, सुन्दर सुखद विहान !
गूँज उठे नीड़ों में सहसा, मीठे मादक गान !

तम भागा, आभा इठलाई,
वन की कली-कली मुस्काई,
प्रकृति-परी ने ली अँगड़ाई,

तुहिन कणों ने फूलों के मुख कर डाले अम्लान !
प्राची की पलकों में जागा, सुन्दर सुखद विहान !

मदिरालय में चहल-पहल जागी, जागा मधु-ज्वार !
ओठों पर है जाम-जाम, आँखों में अंध-खुमार !

ख़ाली भरे, भरे रीते हैं,
जीने वाले तो पीते हैं,
भर-भर पीते हैं, जीते हैं,

ढाल-ढाल मदिरा माया की, सब करते हैं पान !
प्राची की पलकों में जागा, सुन्दर सुखद विहान !

उठो उठो ! कह कर धीरे से, सोई पलकें चूम !
मत्त समीरण एक नशे में नाच उठा झुक, झूम !

उठी-उठी वह निंदिया माती,
बल खाती, लट-लट छिटकाती,
पग-पग पर है प्रलय जगाती,

बिछने को चरणों में आकुल, हैं धरती के प्राण !
प्राची की पलकों में जागा, सुन्दर सुखद विहान !

कोयल कूक उठी आमों पर, नाच रहे हैं मोर!
वन की मधुशालाओं को अलि चले मचाते शोर!

पात-पात का सिहर उठा तन,
डाल-डाल पर आया यौवन,
उत्फुल्लित हैं वन-वन उपवन,

मूक मुखर, स्थिर अस्थिर, आये निष्प्राणों में प्राण!
प्राची की पलकों में जागा, सुन्दर सुखद विहान!

किंतु विजन में भग्न-कब्र पर, धुँधला प्रातः दीप!
तिल-तिल जला जला निज उर को है अब मरण समीप!

स्नेहहीन यह जिसका जीवन,
जिसके शुष्क हृदय की धड़कन,
हो जायगी मूक किसी क्षण;

इस विहान में देख रहा है अब अपना अवसान!
प्राची की पलकों में जागा, सुन्दर सुखद विहान!

विदा

चल दोगी कुटिया सूनी कर, इसी घड़ी, इस याम !
युग युग तक जलते रहने का मुझे सौंप कर काम !

तुम आईं, था इतना क्या कम ?
हुआ दूर जीवन का घन-तम !
वह क्षणसुख सुषमा का उद्गम ।

जड़ता गति होकर बह निकली, उत्फुल्लित अविराम !
चल दोगी कुटिया सूनी कर, इसी घड़ी, इस याम !

विदा

मैंने कब चाहा चिर-मिलना, कब चाहा चिर-प्यार !
चाहा कब हो कुटिया मेरी, तेरा कारागार !

और प्रेम का लघु सुन्दर क्षण,
कब चाहा पाये चिर-यौवन,
चाहा कब हो जाये बन्धन—

मेरे सीमा-हीन-प्रणय का अंतिम-जड़ परिणाम !
चल दोगी कुटिया सूनी कर, इसी घड़ी, इस याम !

जाओ जाओ प्राण ! बसाओ एक नया संसार !
एक नया उल्लास, नया सुख, पाओ अभिनव प्यार !

मेरी याद कहीं जो आये,
गहरी घटा उठा कर लाये,
और हृदय में टीस जगाये,

उसे भुला देना, उस सुख में क्या इस दुख का काम !
चल दोगी कुटिया सूनी कर, इसी घड़ी, इस याम !

सुख था सीमा को जा पहुँचा, था आनन्द अगाध ;
रोम रोम ने जीवन पाया, नस नस ने नव-साध ;

उन घड़ियों की याद सुखद है,
उनकी स्मृति में भी तो मद है,
सुख की भी शायद कुछ हद है,

भरा लबालब इसी लिए तो छलक उठा है जाम !
चल दोगी कुटिया सूनी कर, इसी घड़ी, इस याम !

काफ़ी है मेरे जीने को, एक तुम्हारी याद ;
मीठे मीठे सपनों का सा, सुख से भरा विषाद ;

सच कहता हूँ—जी सकता हूँ,
दुख का प्याला पी सकता हूँ,
घाव हृदय के सी सकता हूँ,

अणु अणु में है, प्राण तुम्हारी जब तक छवि अभिराम !
चल दोगी कुटिया सूनी कर, इसी घड़ी, इस याम !

सूनी घड़ियों में

जीवन की सूनी घड़ियों में, प्राण तुम्हारी याद,
भरती रहती है अन्तर में, क्षण क्षण नव उन्माद !

आ जाती है याद जवानी,
जीवन का आह्लाद जवानी,
मेरी वह बर्बाद जवानी,

और घटाओं-सा घिर आता, प्राणों पर अवसाद !
जीवन की सूनी घड़ियों में, प्राण तुम्हारी याद !

मैंने उस सरिता को रोते पाया है दिन रात,
चट्टानों से सतत पूछते हम बिछुड़ों की बात !

कहाँ गये वे दो दीवाने,
पथिक प्रणय-पथ के मस्ताने,
दो दीपक, वे दो परवाने,

किसने उनका विस्मृतिमय जग कर डाला बर्बाद ?
जीवन की सूनी घड़ियों में प्राण तुम्हारी याद !

हँस लेता हूँ, यह भी सच है, पर अदम्य अवसाद,
सहसा हो उठता है झूठे संयम से आज़ाद !

और उमड़ आता है सावन,
जीवन से हारा मेरा मन,
बह आता है आँसू बन बन,

ज्वार उठाकर मुझे बहा ले जाता कहाँ विषाद !
जीवन की सूनी घड़ियों में, प्राण तुम्हारी याद !

सूनी घड़ियों में

प्राण आँसुओं के सागर में, बहता जीवन-यान,
मित्र सुखी अपने सुख में, हैं देख इसे हैरान!

नहीं समझते क्यों रोता हूँ!
क्यों अपना तन मन खोता हूँ!
क्यों इतना कातर होता हूँ!

बना हुआ है जग से जाना जब आने के बाद!
जीवन की सूनी घड़ियों में प्राण तुम्हारी याद!

नहीं देवता लेकिन मैं तो, हूँ निर्बल इंसान!
रो पड़ता हूँ, दिल रखता हूँ, नहीं क्रूर पाषाण!

कहो, चैन कैसे मैं पाऊँ?
मन को मैं कैसे समझाऊँ?
कैसे मैं आँसू न बहाऊँ?

उजड़ गयी जब मेरी दुनिया, होते ही आबाद!
जीवन की सूनी घड़ियों में प्राण तुम्हारी याद!

भूले बिसरे राग

मेरे चिर-निद्रित सपने क्यों आज पड़े हैं जाग ?
किसने फूंक दिये कानों में, भूले बिसरे राग ?

किसने आग लगा दी तन में,
राख सरीखे मेरे मन में,
ज्वाला सुलगा दी जीवन में,

विस्मृति में जो दबी हुई थी धधका दी फिर आग !
मेरे चिर-निद्रित सपने क्यों आज पड़े हैं जाग ?

नभ के प्रांगन में उमड़ी वह, मस्त घटा घनघोर !
खग तज नीड़ हर्ष से पागल, मत्त मचायें शोर !

मन कहता सब बंधन तोड़ें,
मस्ती में बस्ती को छोड़ें,
नाता अलमस्ती से जोड़ें,

तोड़ फोड़ दें रीतें सारी, रस्मों को दें त्याग !
मेरे चिर-निद्रित सपने क्यों आज पड़े हैं जाग ?

जी भर आज लुटा दें, इतने दिनका संचित प्यार ।
अरमानों के विहग गा उठें, युग युग के उद्गार ।

शशि की सुन्दर तरी सजा कर,
किरणों की पतवार बना कर,
अम्बर के सागर में जाकर—

नये जगत कीखोजकरें हम, इसजड़ जग को त्याग ?
मेरे चिर-निद्रित सपने क्यों आज पड़े हैं जाग ?

दीप जलेगा

वर्त्तमान के पट पर आँकें, भूला हुआ अतीत !
एक बार फिर गूंजे उर में, गत यौवन का गीत !

आंखों में छा जाय खुमारी,
दुनिया बदल जाय फिर सारी,
भूल जायँ हम दुनियाँ दारी,

नयी आग हो, नव यौवन हो, नव मद, नव अनुराग !
मेरे चिर-निद्रित सपने क्यों आज पड़े हैं जाग ?

जीर्ण शीर्ण तन में यौवन की स्मृति का क्षणिक उभार,
जाने कैसे उठा रहा है पागलपन का ज्वार !

रस आया फिर हृदय विरस में,
कोयल कूक उठी मानस में,
आज रहे जी कैसे बस में ?

शिथिल हुआ तन, बुझ न सकी है, पर अन्तर की आग !
मेरे चिर-निद्रित सपने क्यों आज पड़े हैं जाग ?

माँग न पागल प्यार !

समझाता हूँ लाख हृदय को, माँग न पागल प्यार !
देकर सुख-संतोष-सुमन मत, ले काँटों का हार !

सुख क्या पाता है परवाना,
और तुहिन का कण दीवाना,
जलना है या है मर जाना,

प्रेम-पंथ में सुख बिरले को, दुख सबका अधिकार !
समझाता हूँ लाख हृदय को, माँग न पागल प्यार !

क्या रक्खा है मनुहारों में, क्या आतुर अभिसार ?
एक क्षणिक सुख, उसके पीछे, दुख का पारावार !

वहुत चख चुके हैं यह फल भी,
स्वाद वही है जो था कल भी,
बेचैनी, पीड़ा, हलचल भी—

वही पुरानी युग युग से है, नया न कुछ भी सार !
समझाता हूँ लाख हृदय को, माँग न पागल प्यार !

पल ही भर की एक भूल पर, जीवन भर अनुताप ;
एक गयी-बीती आशा का, करते रहना जाप ;

नभ में नित प्रासाद बनाना;
दिल की दुनियाँ अलग बसाना;
लोगों में उन्मत्त कहाना;

सदा बनाते ढाते रहना, आशा का संसार !
समझाता हूँ लाख हृदय को, माँग न पागल प्यार !

माँग न पागल प्यार

लगा हुआ अनुराग-सग का, युग युग से बाज़ार।
निशिदिन होता रहता जिसमें, दुख-सुख का व्यापार।

आये कई चतुर व्यापारी,
भूल गये चतुराई सारी,
मन के हाथों है लाचारी,

कर न सके दिल के सौदे में, दुख को अस्वीकार!
समझाता हूँ लाख हृदय को माँग न पागल प्यार!

पर जाने इस मेरे दिल के सिर क्या भूत सवार?
मधु तज पीने को मतवाला, विष- प्याला तैयार!

सुख से ऊब उठा शायद मन,
चाह रहा है कुछ पागलपन,
पीड़ा-मिश्रित - उन्मन - उन्मन,

मीठे मीठे दुख का सुख में, जो कर दे संचार।
समझाता हूँ लाख हृदय को, माँग न पागल प्यार!

प्रतीक्षा

आशा थी, आओगी सत्वर, इस पागल के द्वार !
कर दोगी नीरस जीवन में, नव-रस का संचार !

सुन्दर स्मिति की आभा पाकर,
दमक उठेगा सूरज नभ पर,
मुस्कायेंगे अवनी, अम्बर,

एक बार जब हँस दोगी तो, हँस देगा संसार !
आशा थी आओगी सत्वर, इस पागल के द्वार !

प्रतीक्षा

तुम आओगी, तभी कहूँगा, अपने दिल की बात,
चुप चुप काट दिये कितने सखि, पल घड़ियाँ दिन रात!

और ओंठ ये सी रक्खे थे,
भाव, हृदय में ही रक्खे थे,
आँसू तक भी पी रक्खे थे,

रोक लिये थे उर में अपने, उर के सब उद्गार!
आशा थी आओगी सत्वर, इस पागल के द्वार!

कई बार बातें कीं मैंने, तुम से अपने आप।
और स्वप्न में सुनी तुम्हारी, कई बार पद-चाप।

जैसे तुम मेरे घर आओ,
मधुर स्वरों में मुझे बुलाओ,
कर-कमलों से प्राण, जगाओ,

उठा वही सूनापन मेरी कुटिया का शृंगार।
आशा थी आओगी सत्वर, इस पागल के द्वार!

कई बार इस जीर्ण-कुटी को, मैंने झाड़ बुहार,
किया तुम्हारे आदर के हित, हर्ष-सहित तैयार !

कई बार वीणा को ले कर,
तारों में भर स्वागत के स्वर,
गीत मिलन के गाये जी भर,

कई बार आशा के पंखों पर मैं हुआ सवार !
आशा थी आओगी सत्वर, इस पागल के द्वार !

आओगी मधुऋतु में मधुरे, मलयानिल के साथ !
और सँदेशा भेजोगी तुम, पागल पिक के हाथ !

आईं नहीं सँदेशे आये,
अब तो दिल बुझता सा जाये,
कोयल क्या विश्वास दिलाये,

पतझड़ बीता जब मुड़मुड़ कर, बीत गये युग चार !
आशा थी आओगी सत्वर, इस पागल के द्वार !

नाविक से

लिये जा रहा है नौका तू, ऐ नाविक, किस पार ?
बतला दे इस यात्रा का है, कहाँ अन्त, क्या सार ?

इन ओझल हाथों से तेरे,
मेरे खेवट, नाविक मेरे,
नौका बहती साँझ सवेरे,

पहुँचायेगा कहाँ बता दे, मेरे खेवनहार ?
लिये जा रहा है नौका तू, ऐ नाविक, किस पार ?

ऊषा की लाली में जाने, किसका था आह्वान ?
प्राणों की वीणा में किसका, बजा मनोहर गान ?

बजे न जाने किसके पायल ?
तन मन हुए अचानक चंचल,
बैठ गया नौका में पागल,

सोच कहाँ, उन्माद चला तब, चीर सिंधु का ज्वार !
लिये जा रहा है नौका को, ऐ नाविक, किस पार ?

पथ अज्ञात, दिशा अनजानी, है अदृश्य पतवार !
बेसुध हूँ मैं, काट रहा हूँ, यह तूफ़ानी धार !

लहरें हैं मानों दीवारें,
या हैं सर्पों की फुंकारें,
या मेरे जीवन की हारें,

बढ़ता आता है प्रतिपल वह तम का पारावार !
लिये जा रहा है नौका को, ऐ नाविक, किस पार ?

नाविक से

आँधी है, बिजली है, बादल, तूफ़ानों का ज़ोर!
आज प्रलय टूटा सा पड़ता, मचा हुआ है शोर!

सागर का उन्माद भयानक,
लहरों का आह्लाद भयानक,
मन का यह अवसाद भयानक,

इधर उधर, इस तट उस तट का, सोच आज बेकार!
लिये जा रहा है नौका को, ऐ नाविक, किस पार?

अरे डूबना सागर का यदि, पा जाना है पार!
तो फिर व्यर्थ प्रतीक्षा किसकी, कैसा सोच-विचार?

बहने दे, नौका बहने दे,
लहरों को अपनी कहने दे,
यह पतवार, इसे रहने दे,

हो जाने दे तूफ़ानों से आज मुझे दो-चार!
लिये जा रहा है नौका तू, ऐ नाविक, किस पार?

तस्वीर

आज हाथ लग गई अचानक, सखि तेरी तस्वीर।
एक टीस उठती है बरबस, अन्तस्तल को चीर।

आशाओं का यह जग नश्वर,
यौवन की सब जगमग नश्वर,
दिव-सपनों के चल-पग नश्वर,

अनजाने श्वासों की जीवन, जर्जर सी ज़ंजीर।
आज हाथ लग गई अचानक, सखि तेरी तस्वीर।

तस्वीर

मैंने सपने जोड़ बनाये, थे कितने प्रासाद।
झंझा का झोंका जो आया, हुए सभी बर्बाद।

गिरा हाथ से मद का प्याला,
क्षण में बनी हलाहल हाला,
चौंक उठा मन यह मतवाला—

बुझा हुआ विष में जैसे हो, लगा अचानक तीर।
आज हाथ लग गई अचानक, सखि तेरी तस्वीर।

प्राण, हमें बिछुड़े तो वीते, नहीं अभी दिन चार।
इतने ही में भूल गईं तुम, मेरा पागल प्यार।

याद करो, तज कर दुख सारे,
जब जाते थे नदी किनारे,
सिर पर हँसते चाँद सितारे,

पैरों में कल कल गाता, सरिता का निर्मल नीर।
आज हाथ लग गई अचानक, सखि तेरी तस्वीर।

याद करो चाँदी की घड़ियाँ, सोने के वे याम ।
रात दिवस जब हमें पिलाते, मधु के मधु मय जाम ।

बस जाती दुनिया जब न्यारी,
सुंदर सुखकर प्यारी प्यारी,
दिव-सपनों की तरी हमारी,

अनायास जा लगती थी जब, सुख-सरिता के तीर ।
आज हाथ लग गई अचानक, सखि तेरी तस्वीर ।

नहीं, नहीं, मत याद करो कुछ, यह तो मेरी भूल ।
मेरे उर में जो चुभते हैं, चुभें तुम्हें क्यों शूल ?

अच्छा है यदि भूल गई हो,
स्मृति के दुख से मुक्त हुई हो,
नये जगत की पथिक नयी हो,

इस दुनियाँ की याद दिला क्यों, करूं तुम्हें दिलगीर !
आज हाथ लग गई अचानक, सखि तेरी तस्वीर ।

मेरे उर में

मेरे उर में बस जाओ तुम, बन कर उर की प्यास !
आँखों पर छा जाओ, जैसे अवनी पर आकाश !

सखि, आशा कि दीप जलाकर,
बुझी हुई यह प्यास जगाकर,
मत झिझको अब आग लगाकर,

प्राण बटाओ दुख मेरा तुम, करो नहीं उपहास !
मेरे उर में बस जाओ तुम, बन कर उर की प्यास !

भला न मेरे सुख-सपनों को, होने दो साकार !
रोको नहीं आँसुओं का पर, पागल पारावार !

नयनों की नदियों का पानी,
बहती जिसमें व्यथा-कहानी,
जिसमें दिल रोता है मानी,

ले आये करुणा को शायद, कभी तुम्हारे पास !
मेरे उर में बस जाओ तुम, बन कर उर की प्यास !

स्पन्दन हो यदि तुम जीवन का, मैं हूँ जीर्ण-शरीर।
मैं हूँ जो सूखी सी सरिता, तुम हो शीतल-नीर।

बिना तुम्हारे मेरा जीवन,
एक मरुस्थल सा है निर्जन,
ताल-हीन हो जैसे नर्तन,

मैं हूँ बुझते दिल की धड़कन, तुम हो उसकी आस !
मेरे उर में बस जाओ तुम, बन कर उर की प्यास !

मेरे उर में

:

सिर से पैरों तक जादू तुम, मैं मोहित अनजान !
तुम हो रूप छली, मैं हूँ सखि, सरल प्रेम नादान ।

तुम हो दीपक, मैं परवाना,
मैं हूँ तन्मयता, तुम गाना,
तुम पागलपन, मैं दीवाना,

बिना तुम्हारे जीवन नीरस, सुमन-हीन-मधुमास ।
मेरे उर में बस जाओ तुम, बन कर उर की प्यास !

निष्ठुर जग है आँख, अश्रु मैं, तुम धरती हो प्राण !
ठुकराया मैं एक कोर पर, आ बैठा अनजान ।

अपना हृदय उदार बिछा लो !
अपने में अब मुझे मिला लो !
'मुझे' मिटा दो, 'मुझे' बना लो !

यह अभिलाष करो पूरी, या कर दो सत्यानास !
मेरे उर में बस जाओ तुम, बन कर उर की प्यास !

पतझड़

निर्जन है, निःस्वन है उपवन, आज कहाँ ऋतुराज ?
छाया है अवसाद विश्व का, बन कर पतझड़ आज !

निश्वासें हैं और समीरण,
आज कहाँ भ्रमरों का गुंजन,
धूल हुआ कलियों का यौवन,

लतिकाओं को भी लगती है, लहराने में लाज !
निर्जन है, निःस्वन है उपवन, आज कहाँ ऋतुराज?

पतझड़

पीले पत्ते काँप रहे हैं, लेकर जर्जर प्राण,
आज कहाँ फूलों के ओठों पर पहली मुस्कान ?

वह उनकी सूरत मतवाली ?
वह उनके गालों की लाली ?
जिसका दीवाना था माली ।

खोई खोई डाल डाल पर, उड़ती बुलबुल आज ।
निर्जन है, निःस्वन है उपवन, आज कहाँ ऋतुराज ।

सुरभित करता कुंज मलय में, मिल कर जहाँ पराग ।
और जहाँ मद के मतवाले, गाते मधुमय राग ।

दौर जहाँ मदिरा के चलते,
निशिदिन थे खुम पुर खुम ढलते,
जी के सब अरमान निकलते,

आज वहां कुछ टूटे प्यालों का है लगा समाज !
निर्जन है, निःस्वन है उपवन, आज कहां ऋतुराज !

सूखे विटप खड़े हैं, मानो जीवन का उपहास !
शुष्क डालियों पर कुछ पक्षी, नीरव और उदास !

वे नग़मे, वे गान कहां अब ?
जीवन के सामान कहां अब ?
इन ढांचों में प्राण कहां अब ?

सहसा टूट पड़ी हो जैसे, नभ से दुख की गाज !
निर्जन है, निःस्वन है उपवन, आज कहां ऋतुराज ?

श्रान्त पथिक मैं आ बैठा हूँ, लेकर अमित थकान !
तस्वीरें धुँधले अतीत की, खिंच आईं अनजान !

जब मुकुलित, पुलकित था उपवन,
जब विकसित, सरसित था जीवन,
तुम आईं थीं जब मधुऋतु बन,

अब तो मेरे भी प्राणों पर, है पतझड़ का राज !
निर्जन है, निःस्वन है उपवन, आज कहां ऋतुराज ?

:

मरुस्थल से

अपने उर में पाता हूँ मैं, तेरे उर का भास !
तेरा व्यापक सूनापन है, करता मुझ में वास !

निष्फल तेरी सब आशाएं,
निष्फल तेरी सब इच्छाएं,
निष्फल मेरी आकांक्षाएं,

बुझे हुए अरमानों में हैं, करतीं आज निवास !
अपने उर में पाता हूँ मैं, तेरे उर का भास !

छिपी हुई तेरे अन्तर में, किस तृष्णा की आग ?
अन्तर्हित मेरे अन्तर में, किस इच्छा की आग ?

जलते रहते तेरे कण कण,
जलते रहते तेरे क्षण क्षण,
जलता रहता मेरा तन मन,

जलने ही में पाता हूँ कुछ, जीने का आभास !
अपने उर में पाता हूँ मैं, तेरे उर का भास !

दिया न जग ने निज वैभव में हम दोनों को स्थान !
उभर उभर कर बैठ गये हम दोनों के अरमान !

तूने अपनाया यह कोना,
भार हृदय का चुप चुप ढोना,
मैंने दुख के आंसू रोना,

और न करना इस जीवन में, कुछ भी सुख की आस !
अपने उर में पाता हूँ मैं, तेरे उर का भास !

मरुस्थल से

सूनी अँधियारी रातों में, एकाकी औ' मौन!
ठुकराया इस जग के हाथों, उमड़ घुमड़ता कौन?

और नहीं कोई, तू पागल,
और नहीं कोई, मैं विह्वल,
हम तुम हैं दोनों ही बेकल,

इसी लिए रखता तुझ से, हमदर्दी की आस!
अपने उर में पाता हूँ मैं, तेरे उर का भास!

अपने सूनेपन में मुझको, आ लिपटा ले आज!
स्नेह भरे अपने दामन की, छाया में निर्व्याज!

जहाँ मुझे कोई न सताये,
मुझ पर निज अंगुली न उठाये,
औ' पागल कह कर न बुलाये,

जी चाहे रो लूं मैं जी भर, या हँस लूं सोल्लास!
अपने उर में पाता हूँ मैं, तेरे उर का भास!

मत ठुकरा !

मत ठुकरा ओ जाने वाले, जान मुझे बेजान !
मेरी जड़ता में स्पंदित हैं, निष्ठुर शत शत प्राण !

इन प्राणों में पीड़ा सोती,
एक व्यथा है चुप चुप रोती,
निशि-दिन मूक वेदना होती,

छिपा हुआ अवसाद विश्व का, है इनमें अनजान !
मत ठुकरा ओ जाने वाले, जान मुझे बेजान !

मत ठुकरा

एक दिवस पाता था मैं भी जगती को रंगीन !
और सदा रहता था अपने सुख-सपनों में लीन !

मेरे इन पाँवों के नीचे,
कण कण अश्रुकणों से सींचे,
कौन पड़ा है आँखें मीचे ?

कभी भूल कर मैं ने इसका, नहीं किया कुछ ध्यान !
मत ठुकरा ओ जाने वाले, जान मुझे बेजान !

अहंकार के पंखों पर उड़, हो नभ पर आसीन !
समझ रहा था विधि को भी मैं, अपने ही आधीन !

गिरि सा दृढ़ हूँ, मैंने जाना,
कोई पतन भी है, कब माना,
होनहार को कब पहचाना,

आज ठोकरों में पथिकों की, है मेरा सम्मान !
मत ठुकरा ओ जाने वाले, जान मुझे बेजान !

जाने क्यों है एक ख़ुमारी, वैभव का यह ज्ञान ?
डाल दिया करता क्यों पर्दा, आँखोंपर अनजान !

नहीं समझता क्यों मानी मन,
है यह चार घड़ी का यौवन,
पत्ता है पतझड़ का जीवन,

क्या जाने कब गिर जायगा, लेकर सब अभिमान ?
मत ठुकरा ओ जाने वाले, जान मुझे बेजान !

एक दिवस तू भी होगा रे, इस ही पथ की धूल !
इस जाने वाले यौवन पर, ओ पागल मत भूल !

देख तनिक मुरझाई कलियाँ,
भ्रमरों की सोईं रँगरलियाँ,
मूक हुईं उपवन की गलियाँ,

वही कभी अभिशाप बनेगा, जो है अब वरदान !
मत ठुकरा ओ जाने वाले, जान मुझे बेजान !

अन्तिम महमान

इन मेरी अन्तिम घड़ियों के, आ अन्तिम महमान !
आ मेरी अन्तिम अभिलाषा, आ अन्तिम अरमान !

कई पाहुने आये इस घर,
मैंने उनको दिया शक्तिभर,
लेकिन तुझ को आज अतिथिवर,

दे डालूंगा शेष रहा जो—एक सिसकता प्राण !
इन मेरी अन्तिम घड़ियोंके, आ अन्तिम महमान !

दीप जलेगा

यद्यपि पास नहीं मेरे कुछ, वैभव का सामान,
किंतु रुकी पंजर में अब भी, तड़प रही है जान !

पा न सका हूँ जो जीवन भर,
अब वह पा लूंगा जी भर कर,
तुझ पर कर उसको न्योछावर,

इसी अन्त में अन्तर्हित है, एक अनन्त महान !
इन मेरी अन्तिम घड़ियों के, आ अन्तिम महमान !

मेरे इस जीवन-उपवन में, कभी न फूला फूल !
आशाओं के विटप लगाये, लेकिन सब निर्मूल !

स्वप्न एक सूना सा जीवन,
एक मरुस्थल नीरस, निर्जन,
क्रूर, कठिन, निष्ठुर यह बंधन,

इस में दम घुटता जाता है, उत्पीड़ित हैं प्राण !
इन मेरी अन्तिम घड़ियों के, आ अन्तिम महमान !

अन्तिम महमान

मिटने वाली आशाओं का यह अति सुन्दर जाल ;
युग युग से है बना हुआ मेरे जी का जंजाल !

मुक्त नहीं मैं हो पाता हूँ,
अधिक उलझता ही जाता हूँ,
रूह कहाँ, फिर भी गाता हूँ,

घुटे घुटे स्वर में जीवन का, नीरस निर्मम गान !
इन मेरी अन्तिम घड़ियों के, आ अन्तिम महमान !

आज तोड़ दे इस वीणा के, जीर्ण-शीर्ण सब तार !
गला घोंट दे, सिसक रही है, क्यों इस की झंकार !

या गाना सचमुच हो गाना,
ज्वाला हो, या हो बुझ जाना,
जीना हो, क्या स्वांग रचाना,

आज बुझा दे इस दीपक को, जो है अब म्रियमाण !
इन मेरी अन्तिम घड़ियों के, आ अन्तिम महमान !

आकांक्षा

मृगतृष्णा सूनेउर की ओ, मन की सुखदहिलोर !
एक बार, बस एक बार छू, इस जीवन का छोर !

बन कर जीवन का जीवन आ !
ओ मेरी स्मृतियों के घन आ !
ओ मेरे रूठे यौवन आ !

संध्या के अँधियारे में भर, रंग बिरंगी भोर !
मृगतृष्णा सूने उर की ओ, मन की सुखद हिलोर !

आकांक्षा

उस घाटी में ले चल, जिसमें दिन है और न रात!
कुछ क्षण हैं, जिनकी सीमाएं, सन्ध्याएं औ' प्रात!

विस्मृति के वे क्षण फिर लादे!
तन मन की सुध बुध बिसरादे!
जीवन को फिर स्वप्न बनादे!

और मिला दे उस अम्बर से, इस धरती के छोर!
मृगतृष्णा सूने उर की ओ, मनकी सुखद हिलोर!

उस घाटी में ले चल, जिसमें भ्रमरों की गुंजार!
कली कली के कानों में कहती मधुऋतु का प्यार!

पक्षी गीत पुराने गाते,
भूली बिसरी तान सुनाते,
तन मन में फिर आग लगाते,

'आमों पर कोयल की कू कू औ' विहगों का रोर!
मृगतृष्णा सूने उर की ओ, मन की सुखद हिलोर!

उस घाटी में ले चल, जिसमें है उन्मत्त बयार !
वीथि वीथि में गाता फिरता अपना पागल प्यार !

उसके स्वर से ताल मिला कर,
उर में जीवन की मृदता भर,
गा उठता है झर झर निर्झर,

मर्मर के स्वर में ताली देता पत्तों का शोर !
मृगतृष्णा सूने उर की ओ, मन की सुखद हिलोर !

ऐसे में उस स्नेहमयी को कर दे फिर छविमान !
घने बादलों में शशि सा मुख, विद्युत सी मुस्कान !

आंखों में भर कर कुछ पानी,
मैं उससे कह लूं ऐ रानी,
भूल गईं वह प्रेम-कहानी ?

जिसके साक्षी चांद, सितारे, निर्झर, पत्ते, मोर !
मृगतृष्णा सूने उर की ओ, मन की सुखद हिलोर !

आशा का अंचल

जीवन के सब फूल लुटा कर, भर झोली में शूल ;
इस तूफ़ानी सागर के सखि, आ पहुँचा हूँ कूल !

झंझा के झोंके हैं जागे,
हैं उद्दाम तरंगे आगे,
साहस का भी साहस भागे,

आशाओं का हुआ जा रहा है जैसे उन्मूल !
जीवन के सब फूल लुटा कर, भर झोली में शूल !

दीप जलेगा

स्मृतियों के धुँधले दीपक जो अब तक थे द्युतिमान,
साथ छोड़ कर होते जाते, वे अब अन्तर्धान !

क्या मैं स्वयं आज बुझ जाऊं ?
या फिर दीपक और जलाऊं ?
जगमग जगमग जगत रचाऊं ?

नव आशाओं के पंखों पर, एक बार फिर झूल !
जीवन के सब फूल लुटा कर, भर झोली में शूल !

आज ध्येय पर सहज पहुँच कर, नहीं मुझे सन्तोष !
उर में आग लिये फिरता हूँ, नहीं किसी का दोष !

माना इसमें आन नहीं वह;
दमक उठे जो, शान नहीं वह;
ज्वालाओं में जान नहीं वह;

और पड़ी अगनित हारों की, अंगारों पर धूल !
जीवन के सब फूल लुटाकर, भर झोली में शूल !

आशा का अंचल

हुई नहीं हैं अभी उमंगें पर मेरी निष्प्राण !
उड़ने को आतुर हैं अब भी, थके हुए अरमान !

क्यों न उठूं, चल दूं मैं उठ कर,
इन लहरों के आज वक्ष पर,
आलिंगन में नयी स्फूर्ति भर,

खे कर ले जाऊं नौका को, नये जगत के कूल !
जीवन के सब फूल लुटा कर, भर झोली में शूल !

जाने उस अभिनव जग में तुम मिल जाओ अनजान !
पूरे हो जायें फिर मेरे सब अपूर्ण अरमान !

जाने आज यदपि मैं असफल,
सफल-मनोरथ हो जाऊं कल,
क्यों छोड़ूं आशा का अंचल ?

ये मेरे सब शूल न जाने, कब हो जायें फूल ?
जीवन के सब फूल लुटा कर, भर झोली में शूल !



अश्क जी १९४१

ऊर्म्मियाँ

१९३८ से १९४१ तक की कविताएं

शकुन्तला और उमा के लिए

भव के विशाल वक्ष पर हम ऊर्म्मियों से एक दूसरे से आ मिलते हैं, कुछ पल साथ साथ चलते हैं, फिर अलग हो जाते हैं। जाने कभी फिर मिलने के लिए, या फिर कभी न मिलने के लिए !

ऊँचे तरु की डाली पर

ऊँचे तरु की डाली पर
यह जान, घनी है छाया,
भोले खग ने चुन चुन कर
कुछ तिनके, नीड़ बनाया!

हँस उठी नियति बन बिजली,
लुट गया विटप का यौवन!
जब राख हो गयी छाया,
तब कहाँ नीड़ के दो तृण!

अब जली हुई शाखों में,
आकुल, आतुर बेचारा;
फड़ फड़ करता फिरता है,
भोला खग मारा मारा!

फिर बदली सी तुम झांकीं

थर एक दिवस उर मेरा,
चिरदिन का सूखा सागर।
अपने अभाव का मारा,
तकता रहता था अम्बर।

तूफ़ान न देखे इसने,
इसने हलचलें न जानीं;
सूनेपन के आतप ने,
सोखा सब इसका पानी।

फिर बदली सी तुम झांकीं,
यह उमड़ा तोड़ किनारे।
तूफ़ान उठा कर सहसा,
तब झलके चाँद सितारे।

दर्पण और दिल

दर्पण अंकित कर पाये,
कब छवि उसकी तुम सुन्दर ?
रे, छाप अमिट है जिसकी,
मेरे इस मानस-पट पर !

तुम रूप-राशि को पाकर,
हो वंचित ही बेचारे।
निधि पा, संचित कर रखता,
वह दिल है कहाँ तुम्हारे ?

यद्यपि इस दिल ने उसको,
छवि उसकी नहीं दिखाई;
पर अपने अणु अणु में है,
उसकी तस्वीर बनाई !

शलभ और शमअ

जलने को जलता रहता,
है दीपक प्रतिपल प्रतिक्षण।
है और शलभ का जलना,
कर ज्वाला का आलिंगन।

उन्माद कहाँ वह उस में?
जो इसमें है पागलपन!
खोकर विस्मृति के जग में,
कर देना अर्पण जीवन!

पर पागल परवाने ही
सखि, जग में पूजे जाते।
जो जलते हैं ज्वाला में
औरों को नहीं जलाते।

सूने बाग़ का फूल

यह प्रेम-कुसुम सखि मेरे
सूने उर की डाली पर,
चुप चुप, धीरे धीरे सखि
मुरझा जायेगा खिल कर!

घड़ियाँ, पल निठुर समय के,
बिखरा देंगे इसके दल।
औ' स्नेहहीन हिन आतप
मुरझा देंगे इसके दल।

तुम पा न सकोगी इसकी,
जीवन भर गंध कुमारी!
पर मिट कर महकायेगा
यह मानस की फुलवारी!

स्वीकारोक्ति

है प्यार मुझे तुमसे सखि,
मैं कैसे यह कह पाऊं?
अपने मन के भावों को,
कैसे ओठों पर लाऊं?

मदिरा को पीकर नस नस
मद से विभोर हो जाती;
पर बेचारी जिह्वा कब
है व्यक्त उसे कर पाती?

नस नस तड़पी पड़ती है,
पर बोल न कुछ भी पाता।
मैं निरख निरख तुमको सखि,
हूँ मौन सदा रह रह जाता।

तूफ़ानों के कम्पन सा

हल्की हल्की बेचैनी,
चुप चुप, गुम सुम हो जाना;
उखड़े उखड़े फिरना पर,
कुछ दिल का भेद न पाना।

निशि की नीरव घड़ियों में,
आहों का उठ उठ आना।
चाहों का मानस-पट पर,
नित बन बन कर मिट जाना।

मैं नहीं जानता क्या है
यह पीड़ा के स्पन्दन सा?
मेरे उजड़े मानस में
तूफ़ानों के कम्पन सा?

मन की व्यथा

विद्युत में जलधर हँसता,
जब उर उसका रोता है।
दिन हँसता रहता है सखि,
पल पल ज्यों क्षय होता है।

चमका करते हैं तारे,
नित लिये युगों की पीड़ा।
हँसते फूलों के उर में,
प्रायः रहता है कीड़ा।

फिर क्या, जो हँसता हूँ मैं,
मन का अवसाद भुलाये।
संसार दुखी हँसता है,
नित मन की व्यथा छिपाये।

मूक हृदय की वीणा

अनुरोध तुम्हारा है सखि,
पर मूक हृदय की वीणा ;
गाये तो फिर क्या गाये,
दो टूक हृदय की वीणा ?

तोड़े इस पर जगती ने,
हैं अत्याचार नहीं क्या ?
सखि, टूट टूट कर बिखरे,
हैं इसके तार नहीं क्या ?

चाहो तो स्नेह-परस से,
तुम इसको स्पन्दित कर दो !
कोयल सी कुहुक उठेगी,
इसमें नव-जीवन भर दो !

फूलों से मग को भर दूं

जीवन पथ के सब काँटे,
मैं हर्ष सहित चुन लूंगा।
फूलों के हार हज़ारों,
मैं बीन बीन बुन लूंगा।

काँटे इस लिए, कि सुमुखि,
भय रहित चली तुम आओ;
औ' फूल, कि उन से आकर,
तुम अपना स्वागत पाओ!

पल में इस मरुथल को सखि,
मधुवन में परिणत कर दूं!
तुम आशा तनिक दिलाओ,
फूलों से मग को भर दूं!

जो मर्म हृदय का समझे

उर बह निकला आँसू बन,
हैं फूटे आज फफोले।
है कौन हमारा दर्दी,
जो उर की गाँठें खोले?

जो मर्म हृदय समझे,
आँखों की भाषा जाने?
प्रतिपल जो उठती रहती
आँधी, उसको पहचाने?

कहने को मूक हृदय ने
सब लाख बार कह डाला।
कोई समझे तो जाने,
अन्तर की मेरे ज्वाला।

इन दो सीपों के मोती

क्यों इन आँखों के पीछे,
दुनिया दीवानी होती ?
क्यों होश भुलाते जग का,
इन दो सीपों के मोती ?

क्या छिपा हुआ है बाले,
इन दो पलकों के अन्दर ?
औ' भरे हुए हैं इन में,
कितने मस्ती के सागर ?

तुम इन अपनी आँखों से,
क्या यह सब जान सकोगी ?
मेरी आँखों से देखो,
तो कुछ पहचान सकोगी !

मिट जाना क्यों हो
तेरे दुख का अफ़साना ?

आभा है इन्द्र-धनुष की,
बादल के मिट जाने में !
फल पाते हैं निज जीवन,
फूलों के मुरझाने में !

संध्या में छिपा हुआ है,
सखि, नव प्रभात का नर्तन !
म्रियमाण व्यक्ति की सिहरन
में नव नव शिशु का कम्पन !

मेरा मिट जाना क्यों हो,
तेरे दुख का अफ़साना ?
जब मिटना ही जीवन है,
औ' जीना है बँध जाना !

आँसू हैं कहाँ ?

अरमानों की मिट्टी में,
सपनों के बीज जमा कर;
देकर आँखों का पानी,
औ' उर का रक्त पिला कर;

था बड़े यत्न से मैंने,
जो सुन्दर बाग लगाया।
झंझा के दो झोंकों ने,
उसका अस्तित्व मिटाया।

अरमान कहाँ अब जिनमें,
सपनों के बीज लगाऊं ?
आँसू हैं कहाँ कि जिनसे,
मैं पौधे नये जमाऊं ?

वसंत के तीन दृश्य

[१]

जब पंचम में पिक बोला,
ऋतुराज आज हैं आये!
हँस कर कलियों ने अपने,
तब मधु के कोष लुटाये!

नीड़ों में चहक उठे तब,
अगनित खग बालों के स्वर!
उन्मत्त हुईं किन्नरियाँ,
स्वागत के गाने गा कर!

पर-ओस विन्दु को जाने,
क्या बात कह गई आकर?
सिहरी, ढुल पड़ी निमिष में,
नयनों से नीर बहा कर!

[२]

पेड़ों की शाखाओं में,
जब फूट पड़े नव-पल्लव !
गा उठे विहग ऋतुपति का,
वन उपवन में जब उत्सव !

जब चटक उठीं यौवन पा,
पुलकित मुकुलित सब कलियाँ !
लद गईं भार से मधु के,
जब विकसित कुसुमावलियाँ !

तब गिरा किनारे पथ के,
पतझड़ का पत्ता जर्जर;
हँस उठा देख सब कौतुक,
फिर दृग अपने लाया भर !

[३]

जब अम्बर के आँगन में,
सब चिड़ियाँ उड़ीं परस्पर !
जब हिल मिल पत्ते सारे,
कर उठे अचानक मर मर !

जब गूंज उठीं कानन में,
सखि, मोरों की झंकारें !
वन वन, उपवन उपवन में,
सखि, भ्रमरों की गुंजारें !

तब एकाकी खग कोई
तिनकों के बन्दीघर में,
कर 'टीं टीं' चुप हो बैठा,
अपने सूने पिंजर में !

देवि मैं पूछ रहा हूँ तुमसे !



हम मिले,
मुझे मालूम हुआ—
तुम तरुण नदी हो।
तूफ़ानी,
अनजानी
गिरि मालाओं में बहने वाली।
इठलाती, बलखाती, बहती
और बहाती—
पाषाणों को,
चट्टानों को,
गिरि के उर को चीर, निकलती
और मचलती
चलती हो उद्दाम।

और मैं दरिया !
चिर का चला,
थका औ' हारा,
मंथर गति से मैदानों में बहने वाला ।
मौन और गम्भीर, शान्त
औ' श्रान्त
यौवन की सब याद भुलाकर,
लूट, लुटा कर,
बहता हूँ उद्भ्रान्त ।

हम मिले

मुझे मालूम हुआ—
तुम चिनगारी हो ।
जीवन की सब आग लिये;
अनुराग लिये;
हो आतुर—
भुस में पड़ो,
जला दो तत्क्षण !

आग लगा दो,
धधका दो
जीवन !
है चमक दमक तुम में
पारा सी,
अंगारा सी !

और मैं राख,
युगों से शीतल ठंडी राख—
न जो गर्माय,
न गर्मी पाय,
पड़े अगर अंगारा उसमें
तो बुझ जाय ।

हम मिले,
मुझे मालूम हुआ—
तुम चिड़िया हो ।
चल पंख तुम्हारे आतुर,
उड़ने को आकाशों की गहराई में ।

कल कंठ तुम्हारा बेकल,
गाने को जीवन के मादक गाने !
अनजाने,
मंडल में जाने को
हृदय तुम्हारा विह्वल !

और मैं खग हूँ !
जिसके बाल,
कि जिसके पंख,
समय ने तोड़ दिये;
झकझोर दिये;
जो बेबस
औ' असहाय !
कहां उड़ पाय ?
भला क्या गाय ?

हम मिले

देवि मैं पूछ रहा हूँ तुमसे—
मुझे बहाओगी क्या ?
मुझे जिलाओगी क्या ?
साथ उड़ाओगी क्या ?

मेरा धन्यवाद लो

लो मधुरे मेरा धन्यवाद !

उन चार क्षणों के लिए देवि,
जो संग तुम्हारे बीत गये।
उन चार क्षणों के लिए कि जो,
सुख दे कर आशातीत गये।

जिन चार क्षणों में पाया था,
मेरे इस जीवन ने जीवन।
जिन चार क्षणों में नाच उठा,
मुखरित, मेरा एकाकीपन।

जिन चार क्षणों में सब दीपक,
मेरी आशा के जाग उठे।
चिर - असफलता की गोदी में,
चिर - सोये मेरे भाग उठे।

जिन चार क्षणों में सोची थी,
इस खग ने नीड़ बनाने की।
अपनी इन उजड़ी घड़ियों के
फिर एक बार बस जाने की।

जिन चार क्षणों में पाया था,
सखि, प्यार सभी इस जीवन का।
जिन चार क्षणों में जान गया,
मैं सार सभी इस जीवन का।

लेकिन मैं भूला उस सुख में,
निज दीन दशा की बात नहीं।
दिन के उज्ज्वल प्रकाश में सखि,
भूला मैं लेकिन रात नहीं।

जीवन में ऐसे मधु-पल तो,
पक्षी बन कर ही आते हैं।
फिर पता नहीं देते कुछ भी,
जब एक बार उड़ जाते हैं।

ध्वनि उनकी सुनता रहता है,
मन अपने उजड़े वर्षों में।
ऊँचे औ' नीचे मार्गों पर,
पतनों में औ' उत्कर्षों में।

तुम सुख की घड़ियों को पाकर,
सखि उनमें ही खो जाओगी।
अनजानेपन में सुख देकर,
फिर अनजानी हो जाओगी।

इन चार क्षणों की सुख-स्मृति पर,
यह दीन सँजोये घूमेगा।
दुख की घड़ियों के शूलों में,
ये फूल पिरोये घूमेगा।

जिन चार क्षणों में मुसकाया,
सखि मेरा चिर-उन्मन-विषाद
लो मधुरे मेरा धन्यवाद!

स्वागत

मधुप ने की जाकर गुंजार,
"अरी, सुन री, कलिका-सुकुमार,
खोल दे अंध-गंध के द्वार!
देख री, आया है मधुमास,
लिये नव-हर्ष, नया उल्लास।
सुरभि के कोष खोल री, खोल,
नयन के मोती जी भर रोल!
बिछा दे चरणों में सत्कार!'
मधुप ने की जाकर गुंजार
'अरी, सुन री, कलिका सुकुमार!'

कहा तारक-तन्वी ने मौन-
इशारों में, जब आई रात,
सुनो तारागण मेरी बात!
हमारे दीपक स्नेह-विहीन,
ज्योति, माना, उनकी है क्षीण;
हृदय का स्नेह लुटा दो आज!
करो स्वागत के सारे साज!
चन्द्र के रथ की है आवाज़,
जगत को सोने में कब लाज?
करेगा शशि का स्वागत कौन?
कहा तारक-तन्वी ने मौन—
इशारों में, जब आई रात।

नवल, चिड़ियों ने गाकर गान,
नयी तानों के तान वितान,
उगा जब नभ में स्वर्ण-विहान।
हृदय का सारा सुरस बखेर;
लगा कर स्वर-पुष्पों के ढेर;
उन्हें ध्वनि के तागों में बीन,
बना मालाएं, नयी नवीन,
किया अरुणोदय का सम्मान।

नवल, चिड़ियों ने गाकर गान
नयी तानों के तान वितान।

उठा रे कवि, भावों की वीन,
ढाल स्वर आतुर, मदिर, नवीन!
और फिर होकर उनमें लीन,
छेड़ दे एक नयी झंकार!
शिथिलता छोड़, छेड़ दे तार!
स्वरों में हृदय, हृदय में प्यार,
प्यार में भर संचित उद्‌गार!
और उद्‌गारों में भर साध!
और फिर उनमें आश अगाध!
डाल दे, प्रिय चरणों पर दीन!
उठा रे कवि, भावों की वीन,
ढाल स्वर, आतुर, मदिर, नवीन!

मेरा प्यार

मेरे उर का सखि मूक प्यार।

कलियों में जैसे वास मौन,
फूलों में जैसे हास मौन;
मधुऋतु में, कण कण के मन में
रहता है ज्यों उल्लास मौन।

ज्यों मौन दबी रहती उर में,
पतझड़ के है मीठी पीड़ा।
ज्यों मौन शिशिर में धुँधियाली,
बन व्यथा किया करती क्रीड़ा।
ज्यों मौन सदा खाता रहता,
है लकड़ी को घुन का कीड़ा।

या मौन दिशाओं के उर में,
तूफ़ानों की जैसे हलचल।
या मौन सदा जलता जैसे,
सागर के उर मे बड़वानल।
या मौन तड़पती रहती है,
ज्यों जलधर में चपला चंचल।

जीवन में आते रहते ज्यों,
सुख दुख, हलचल के मौन ज्वार।

मेरे उर का सखि मूक प्यार।

साथी आज मुझे मत छेड़ो

साथी आज मुझे मत छेड़ो !

जाओ गीत खुशी के गाओ !
जाओ सुन्दर वाद्य बजाओ !
जीवन के मधु-प्यालों का रस,
पी लो और सहर्ष पिलाओ !

हँसो कि हँसता है जग सारा,
जागो, जाग्रत भाग्य तुम्हारा !

पर जिससे खुश नहीं विधाता,
जिसको हँसना, रास न आता ;
देकर क्षण भर का सुख जिसको,
जीवन भर है दैव रुलाता ;

उलफ़त जिसको सूनेपन से,
अंधकार है जिसको भाता;
जिसको यह सब हँसना गाना,
गत-जीवन की याद दिलाता;
उसको चुप चुप सो जाने दो!
अंधकार में खो जाने दो!

सुख वह तुमको दे न सकेगा।
सुख वह तुमसे ले न सकेगा।

उसे न तुम उपचार बताओ,
जीवन की कुछ जांच सिखाओ!
यह जीवन, इसकी सब बातें,
हैं मालूम, न उसे सुझाओ!

फूल कि जिसने देखा जीवन,
फूल कि जिसने देखा उपवन;
प्राची में जगतीं जब किरणें,
जगता जिसके मन में स्पन्दन;

जो नव कलिकाओं में खेला,
चूमा जिसने शबनम का मुख ;
झूमा संग समीरण के जो,
देख लिये जिसने सारे सुख ;
लेकिन अब जो कुम्हलाया है,
डाली से गिर मुरझाया है;
जिसके धूल भरे अंगों पर
आगत का कोहरा छाया है;

उपवन से जो दूर पड़ा है;
थकित शिथिल है, चूर पड़ा है;

उसे न उपवन में ले जाओ!
मत उसका उपहास कराओ!

सिले हुए सब घाव पड़े हैं,
वृथा न उनको आज उघेड़ो!

साथी आज मुझे मत छेड़ो!

आशा के सहारे

मित्र आशा के सहारे,
सोचता था लग सकेगी पार यह नौका किनारे।

किन्तु सागर की हिलोरें,
और मेघाछन्न अम्बर।
तेज़ चलता था प्रभंजन,
और नौका जीर्ण जर्जर।

बुझ चुके थे आह, नन्हे दीप नभ के, मौन तारे।

हाथ में पतवार जिसके,
था न कुछ विश्वास उसका।
और यात्री बन चुका था,
मुद्दतों से दास उसका।

अब उसी पर था डुबोये और चाहे तो उबारे।

डूब जाना है उदधि का,
किन्तु शायद पार पाना।
और खो देना मुहब्बत का
उसे मन में छिपाना।

फिर न कैसे छोड़ देता नाव आशा के सहारे।
मित्र आशा के सहारे।

किस की याद

आज मेरे आँसुओं में याद किसकी मुस्कराई ?

शिशिर ऋतु की धूप सा सखि,
खिल न पाया मिट गया सुख।
और फिर काली घटा सा,
छा गया मन प्राण पर दुख।

फिर न आशा भूलकर भी उस अमा में मुस्कराई।

हाँ कभी जीवन-गगन में,
थे खिले दो चार तारे।
टिमटिमा कर, बादलों में
मिट चुके पर आज सारे।

और धुँधियाली गहन, गम्भीर चारों ओर छाई।

पर, किसी परिचित पथिक के,
थरथराते गान का स्वर।
उन अपरिचित मार्गों में,
गूँजता रहता निरन्तर।

सुधि जहाँ जाकर हज़ारों बार असफल लौट आई।
आज मेरे आँसुओं में याद किसकी मुस्कराई ?

किस स्नेह परस ने छेड़ दिया

किस स्नेह-परस ने छेड़ दिया
निष्प्राण पड़ी सी वीणा को?
चिर श्रान्त, थकित, चिर मौन और
चिर एकाकिनि, चिर क्षीणा को?

जिसके ढीले से मौन तार,
झंकृत हो गाना भूल गये।
मन को मस्तक को, नस नस को,
पल में सिहराना भूल गये।

जिसका मन शिथिल, पड़े जिसकी
वाणी पर थे चुप के ताले।
जिसके तन पर अगनित जाले,
दुख की मकड़ी ने बुन डाले।

किस स्नेह-परस ने छेड़ दिया?
सब तार तने झंकार उठी।
ज्यों अंधकार में रजनी के,
हो ज्योत्स्ना की दीवार उठी।

किस स्नेह-परस ने छेड़ दिया?
गानों के सागर फूट पड़े।
संगीत भरे नभ से तारे
तानों के अगनित टूट पड़े।

ध्वनि के खग उड़ उड़ फैल गये,
औ' दशों दिशाएँ जाग उठीं।
अम्बर की सोई सी स्मृतियाँ
सुन कर यह अभिनव राग उठीं।

धरती ने ली फिर अँगड़ाई,
अपनी चिर-निद्रा तज डाली।
तन्द्रिल पलकों ने ज्योति नयी,
उस राग भरे क्षण में पा ली।

सागर सिहरा, काँपा, तड़पा,
छूने को नभ के छोर चला।
अम्बर लेकर मोती अपने,
मिलने को उसकी ओर चला।

उल्लास और अवसाद मिले,
काया छाया में क्षीण हुई!
स्मृति तन्मय होते होते सखि,
विस्मृति में जाकर लीन हुई।

किसने फिर स्नेह-परस खींचा?
फिर शंकित सी चुप है छाई।
वीणा की तृष्णा ने पूरी,
थी अभी नहीं ली अँगड़ाई।

मानव प्रगति

जिस राही से आशा थी,
विद्युत की गति पाने की।
इन सूरज चाँद सितारों
को छोड़, परे जाने की।

जो चला युगों से है पर,
कुछ अधिक नहीं बढ़ पाया।
जिसकी प्रगित को पीछे,
मुड़ मुड़ आना ही भाया।

थे आदि-काल से जिसके,
आगे विस्तृत, अगनित मग।
वह युगों युगों में रखता,
है शंकित सा कोई पग।

मेरी लज्जा तेरी लज्जा

क्यों मानव की लज्जा से,
है तू इतना शर्माता ?
इसके दुःखों कष्टों पर,
क्यों जी तेरा भर आता ?

यह गिर पड़ता है तो क्यों,
है सिर तेरा झुक जाता ?
इसके दोषों त्रुटियों से,
है तू क्यों आँख चुराता ?

क्या युगों युगों से इसका,
तू कर्ता नहीं कहाता ?
ओ देव नहीं अपने सा,
फिर क्यों तू इसे बनाता ?

क्यों छोड़ूँ दीप जलाना

मिट जाती हैं स्रष्टा की,
जब जब रचनाएँ सुन्दर।
तब तब वह और बनाता,
उनसे भी अनुपम सत्वर।

कब जाना आहें भरना,
उसने असफल होने पर?
वह कब चुप हो बैठा है,
सिर को घुटनों में देकर?

क्यों छोड़ूँ फिर मैं भी सखि,
नित नूतन जगत बनाना?
यह लाख बार बुझ जाए,
क्यों छोड़ूँ दीप जलाना?

क्यों आज न बाग़ लगालूँ

आशाएँ जब धरती की,
फूटीं बन बन नव - अंकुर !
जब सूना उर अम्बर का,
नव आशा से आया भर !

जब रुद्ध-कंठ विहगों के,
नव नव तानों में बोले !
जब जड़-जंगम ने बदले,
हैं आज पुराने चोले !

तब मानस के मरु-थल में,
क्यों आज न बाग लगा लूं ?
क्यों आज न स्वयं विधाता
होने का गौरव पा लूं ?

जब तोड़ तीलियाँ सारी

युग युग से सुनता हूँ मैं,
हैं जग में बन्दीख़ाने।
घुट घुट कर मर जाते हैं,
जिन में अगनित दीवाने।

वे नहीं जानते नभ में,
खिलते हैं शत शत तारे।
कुल्हिया, दाने-पानी तक,
सीमित उनके सुख सारे।

क्या दिन न कभी आयेगा,
जब तोड़ तीलियाँ सारी?
पर खोल हवा में बन्दी,
मारेंगे मुक्त उड़ारी?

संसार बसायें अभिनव

आ इस जगती के ऊपर,
अभिनव संसार बसायें!
जिस में दुख इस दुनिया के,
हम को न सताने पायें!

ऐसा संसार कि जिस में,
दिन क्षण बन बन कर बीतें!
इस दुनिया के दुःखों को,
जिस दुनिया में हम जीतें!

उस अभिनव जग के अन्दर,
हम तुम हों दोनों प्राणी!
औ' भार सरीखा जीवन,
बन जाये प्रेम-कहानी!

जब आये मृत्यु

पा लेना है मंज़िल ज्यों,
पथ काट सुगम वा दुर्गम!
प्रतिबंध पार कर सारे,
ज्यों पा लेना निज प्रियतम!

असफल व सफल बाज़ी को,
ज्यों खेल, बिसात बढ़ाना!
ऋण सभी चुका कर अपने,
ज्यों सुख मीठा सा पाना!

या दिन भर के श्रम से थक,
ज्यों रात पड़े सो जाना!
जब आय मृत्यु है त्यों ही,
सखि, उसको गले लगाना!

पत्थर सा मित्र हुआ है

पत्थर सा मित्र हुआ है,
तू पूज पूज कर पत्थर !
सब शान्ति गँवा बैठा है,
नित शान्ति-पाठ जप जप कर !

क्या सीख लिया है तूने
ईंटों पर शीश झुकाना ?
दहलीज़ों की मिट्टी को,
मस्तक का तिलक बनाना ?

पूजा करके पर जिस की,
तू पा सकता मन का सुख !
वह मानवता सहती है,
तेरे हाथों असह्य दुख !

जाना उस पार न मुश्किल

चुप खड़े देखते हो क्या,
लहरों के कोलाहल को!
इस महा-उदधि की प्रतिपल,
बढ़ने वाली हलचल को!

झंझा के इन झोंको को,
इन उठती दीवारों को!
इन फेनिल निश्वासों को,
चट्टानों की डारों* को!

कूदो तो जान सकोगे,
जाना उस पार, न मुश्किल!
मन में है यदि अभिलाषा,
औ' अभिलाषा में है बल!

---

*डारों=पक्तियों

खँडहर में निर्माण

खँडहर में छिपे हुए हैं,
निर्माण न जाने कितने ?
टूटी आशाओं में हैं,
अरमान न जाने कितने ?

अवसानों की गोदी में,
कितने विहान नित पलते ?
सूने मानस के अन्दर,
कितने तूफ़ान मचलते ?

जीवन के इस खँडहर पर,
आई है रात अँधेरी ?
मत साथ छोड़ना, साहस,
भर आयँ न आँखें मेरी ?

वह दूर नदी के तट पर

वह दूर नदी के तट पर,
निज सूनेपन से हारा!
रह रह कर गा उठता है,
धुन में कोई बेचारा!

उसकी तानों पर उड़ उड़,
भूली स्मृतियाँ हैं आतीं?
जो उर में बीते युग की,
चिर-सोई याद जगातीं!

मैं सहसा जाग पड़ा हूँ,
अपनी सूनी शय्या पर!
है नींद उड़ गई मेरी,
पलकों के पटल उठा कर!

भीगी है रात अँधेरी

भीगी है रात अँधेरी,
ऊबे ऊबे से तारे !
सोये सब राही रस्ते,
सोये पशु पक्षी सारे !

गेहूँ में एक बटेरा,
कर उठता है 'विट-विट वीं' !
या थकी टिड्डी की,
है थकी हुई सी 'चीं चीं !'

गाता है करुण स्वरों में,
खेतीहर हौले हौले !
बर्बाद कर गये जिसके,
खेतों को आँधी ओले !

शीतकाल की प्रातः

शीतकाल की प्रातः नभ में,
धुँधियाली गहरी छाई है।
चांद खड़ा सिमटा अम्बर में,
दीप्ति उसकी कुम्हलाई है।

सहमा सहमा,
सिकुड़ा सिकुड़ा,
किरणों का सब जाल समेटे।
विटप, झाड़ियाँ,
रस्ते, राही,
धुँधियाली ने सारे मेटे।

हिम ऐसी सर्दी के डर से,
अभी नहीं ऊषा ने झांका।
अभी नहीं वैभव को अपने,
आँखें भर प्राची ने आंका।

चिड़ियों का संगीत मौन, खग
नीड़ों की गर्मी में सोये।
पंख पंख में,
चोंच चोंच में,
भावों में निज भाव सँजोये।

ओस बरसती
है वर्षा सी।
पाँव फिसलते हैं रस्तों पर
शीत धँसा आता है बरबस,
पक्की दीवारों के अन्दर।

लेकिन घर से निकल पड़ा है।
खेतीहारा,
जग का दाता।
जीर्ण-शीर्ण चादर में अपने
ठिठुरे, सिकुड़े हाथ छिपाता।

तुम कहते हो आज दुखी मैं !

तुम कहते हो, 'आज दुखी मैं !'

आँख उठा कर देखो, जग में,
कौन, नहीं जिसने दुख पाया ?
कौन, नहीं जिसके सपनों पर,
पड़ी अचानक दुख की छाया ?

संसृति के जीवन में, क्षण क्षण,
मानव ने है दुख को पाला।
धुँआ छिपा रहता है, लेकिन,
धधका करती है नित ज्वाला।

मुस्कानों के पीछे आँसू,
और हास के पीछे क्रन्दन।
ऊपर से पुलकित गातों के
अन्तर में अन्तर्हित सिहरन।

उधर किसी कोने में देखो,
पड़ी उपेक्षित पीड़ित नारी।
मौन रूप से, चुप चुप उसकी
आँखों से आँसू हैं जारी।

सह सह कर, दुख, उसने अपने
संगी का संसार बसाया
जूझ जूझ कर विपदाओं से,
उसको उसने योग्य बनाया—

उन्नत होकर, क्रूर जगत के,
कोषों से छीने धन-वैभव
नभ के तारे तोड़, असम्भव
को कर दे क्षण भर में सम्भव।

लेकिन आज, कि जब सोचा था
उसने आई सुख की बारी,
उसका निर्मम संगी और
किसी देवी का बना पुजारी।

और उधर बन्दीखाने की
निर्दय दीवारों से अन्दर,
क्षण भर सुस्ताने बैठा है,
बन्दी, कूट कूट कर पत्थर।

भूल गये वे लोग, कि जिनके
हित उसने बलिदान दिया था।
निज सुख का संसार, कि जिनके
हित उसने वीरान किया था।

भोली बीवी, भोले बच्चे, भोला
घर, जिनके हित छोड़ा,
जिनके हित दुनिया के सब
सुख वैभव से उसने मुँह मोड़ा।

जिनके दारुण दुख ने उसके
अणु अणु में थी आग लगाई।
आज उपेक्षा से कहते हैं
वही उसे "पागल, सौदाई!"

और उधर, टूटे से छप्पर,
की निष्ठुर, निर्मम धरती पर,
मानव का कंकाल पड़ा है,
ज्वर की पीड़ा से अति-जर्जर।

जग को है अवकाश कहाँ
इतना, जो वह उसके ढिग जाये ?
किस को इतनी फुर्सत है जो
उसको जाकर धीर बँधाये

मौत, अँधेरी रात और उनमें
चिन्ता सी नन्हीं बाला
"यह जग तो असहायों को है
निज आखेट बनाने वाला।"

स्नेहहीन दीपक संगी, ज्यों
ज्यों प्रति पल बुझता जाता है,
गहन अँधेरा त्यों त्यों उसकी
आँखों में उमड़ा आता है

यह सब देखोगे तो कह दोगे,
'हे ईश्वर आज सुखी मैं !'
तुम कहते हो, 'आज दुखी मैं' !

रात चाँदनी

रात चाँदनी, मस्त हवा है,
नींद भरी सी है 'मर मर !'
स्वप्न-लोक के गीत सुनाता,
चाँदी सा झरना झर झर !

मस्त बदलियाँ जैसे नभ के,
हों सुन्दर सपने सुकुमार !
चले जा रहे निर्मित करने,
सुख का एक नया संसार !

घने घने पेड़ों के नीचे,
लम्बे लम्बे साये हैं !
किरणों ने पत्तों से छन छन,
जिन पर जाल बिछाये हैं !

तुहिन कणों से लदे हुए हैं,
दूर्वा के मृदु के दल दल!
नन्हे नन्हे चाँद हज़ारों,
करते हैं झलमल झलमल!

हारे थके किसी जीवन में,
जैसे सपने आते हैं!
इसी तरह छाया में जुगनूं,
चमक चमक छिप जाते हैं!

भीनी भीनी सौरभ से है,
भारी भारी, मस्त हवा!
दिन भर के झुलसे दिल की,
है ठंडी ठंडी यही दवा!

घायलदिलपरशीतल,कोमल,
फाहे रख रख देती है!
पीड़ा युगों युगों की क्षण में,
दयावान हर लेती है!

धरती पर सोई हरियाली,
नभ पर हैं तारे सोये !
'निंदिया पुर' के जादू जग में,
सारे के सारे खोये !

राहों के अन्तर में सोई,
स्मृति दिन के कोलाहल की !
गूंज दिशाओं में निद्रित है,
अभी अभी बीते कल की !

दिन भर मुस्कानें वितरण कर,
थके हुए से पुष्प-अधर !
निद्रा में सोये हैं लेकर,
स्निग्ध चाँदनी की चादर !

अब भी सुन्दर स्मृतियाँ दिन की,
पर उन में मधु भरती हैं !
हारे थके किसी राही का,
जो जीवन-श्रम हरती हैं !

कोमल किसलय-दल पर जाकर,
मद के डाकू सोये हैं।
किसे ख़बर मैंने इन रातों,
कितने सपने खोये हैं?

नीम से

ओ नीम !
ओ नीम, कि तेरे अन्तर में,
हैं छिपी हुई स्मृतियाँ बीती !
ओ नीम, कि तेरी छाया में,
बाज़ी हारी मैं ने, जीती !
ओ नीम, कि तेरे संग कई,
काटीं मैंने घड़ियां रीती !

तेरे सायों में हँसा बहुत,
मैं कई बार हूँ रोया भी !
तेरी छाया में एक जगत,
पाया भी मैंने खोया भी !
सुख के सपने अगनित सींचे,
औ' बीज दुखों का बोया भी !
ओ नीम !

हैं याद तुझे अब या कि नहीं,
घनघोर घटाएँ सावन की?
वे गाने, वे झूले, पैंगें,
वे मस्त हवाएं सावन की?
वह धूप कभी, वर्षा व' कभी,
दिलचस्प अदाएँ सावन की,

मोरों की अविरल झंकारें,
कोयल की 'कू कू' मस्तानी?
पत्तों के 'मर मर' पर उठती,
वह वंशी की लय दीवानी?
जो सुनने वालों से कहती,
वह प्रेम कहानी अनजानी?

सावन के, याद नहीं तुझको,
उन्माद भरे दिन, रातें वे?
रे, घड़ियों सी बहने वाली,
कुछ मीठी मादक बातें वे?
अलबेले, अनजाने जादू,
औ' भोली भाली घातें वे?

उलफ़त* के अम्बर में, मन के,
खग उड़ते, उड़ उड़ कर मुड़ते ?
संध्या के धुँधले सायों में,
जब तार दिलों के थे जुड़ते !

क्या इतने में ही भूल गया,
उस मेरी प्रेम-कहानी को ?
उस रूप-शिखा पर जल जल कर,
मिटती, कम्बख़्त जवानी को ?
उर के नीरव निश्वासों को,
आँखों के चुप चुप पानी को ?

ओ नीम

* प्रेम

आ याद दिलादूँ जब लेकर,
रेवड़, चरवाहे आते थे;
टेढ़े, कच्चे रस्तों पर चल,
चारों दिशि धूल उड़ाते थे;
बादल से गहरे, मटमैले,
जब गाँवों पर छा जाते थे;

हर घर में 'हीर'[1] खड़ी कोई,
जब बाट जोहती 'रांझन'[2] की;
घर के कामों में मग्न हुई,
सब याद भुला कर 'तिंझन'[3] की;
गायों बछड़ों से कह देती,
जब व्यथा सभी अपने मन की;

सीधे साधे से खेलों में,
जब सब किशोर जुट जाते थे;
जीवन की मधुऋतु के वासी,
जब गीत प्रीति के गाते थे;
'राँझे' के गान हवाओं में,
जब बिखर बिखर थर्राते थे;

१,२ = पंजाब के अमर प्रेमी; ३ = जहाँ स्त्रियाँ इकट्ठी मिल कर खी कातती हैं।

'माही'[1] के 'बालो'[2] के गाने,
गूंजा करते कानों में;
जब तरल तराने बहते थे,
वंशी की मीठी तानों में;
दिल खिंचे चले जाते जब,
दो अलगोज़ों के गानों में;

जब वृद्ध सुनाते थे अपने,
बीते जीवन के अफ़साने;
गलियों में अल्हड़ यौवन के,
पीछे फिरते थे दीवाने;
ज्यों दीप-शिखा पर शाम पड़े,
मर मिटते पागल परवाने!

ममता की मारी गायों के,
जब बाड़ों से आते थे स्वर;
औ' मुर्ग़ अज़ानें देते थे,
जब साथ मुअज़्ज़न[3] के मिल कर;
पानी लेने को खाले[4] पर,
वह जाती थी लेकर गागर!

ओ नीम

१ प्रेमी २=प्रेमसि ३ मुअज्ज़न=बांग देने वाला
४ खाला=रजबहा।

मैं एक दिवस ऐसे ही में,
यह अपना हृदय गँवा बैठा।
आँखों ही आँखों में अपना,
सब दिल का भेद बता बैठा।
औ' बैठे ठाले अनजाने,
इस दिल को रोग लगा बैठा।

ओ नीम

संध्या थी, भरती थी पानी,
वह यौवन के हाथों हारी।
मुझ को था ऐसा भास रहा—
है नाच रही दुनिया सारी।
औ' बिछ बिछ जाती है उसके,
चरणों में धरती बेचारी।

ओ नीम

उसकी तरुणाई के चर्चे*,
थे बेलों में, वीरानों में।
नव-वय के युवकों के अन्दर,
यौवन-माते दीवानों में।
उसकी दो बातों की हसरत,
थी कितने ही अरमानों में।

नयनों में उसके, यौवन की,
स्वर्णिम-आभा इठलाई थी!
ओंठों ने उसके फूलों की,
शायद मुस्कान चुराई थी!
सूरज के गालों पर भी तो,
उसके मुख की अरुणाई थी!

*चर्चे=चर्चा, पर चर्चा से अधिक विस्तार इस शब्द के अर्थों

उसकी सुन्दरता पी पी कर,
सूरज सोता सा जाता था।
कुछ उसके स्वर्णिम चेहरे को,
जाने होता सा जाता था।
औ' मैं, अनजाने देशों में,
प्रतिक्षण खोता सा जाता था।

कुछ नाम भला सा था, पर सब,
उसको 'शम्मी' ही कहते थे।
विष और अमृत दोनों ही तो,
उसकी वाणी में रहते थे।
औ' उसकी आँखों में अगनित,
मदिरा के सागर बहते थे?

ओ नीम!

मैं चाह रहा था पी जाऊँ,
उस मदिरा की अन्तिम तलछट !
जिस मदिरा की मादकता में,
थे अगनित सपनों के जमघट !
थी पहली मस्त जवानी ने,
ली जिसके अंगों में करवट !

ओ नीम !

इस तपते दिल में एक दिवस,
फिर उसने ठंडक डाली थी।
अपनी खोई दुनिया मैंने,
उसकी आँखों में पा ली थी।
औ' एक नयी आशा उर ने,
कुछ अपने आप बना ली थी।

ओ नीम !

दिन होते हैं, जब आशाएँ,
अति सुन्दर जाल बिछाती हैं।
अस्तित्व नहीं जिनका कोई,
वे अनुपम बाग़ खिलाती हैं।
सतरंगे इन्द्र-धनुष जैसे,
पट आँखों में लहराती हैं।

दिन होते हैं, मन का खग जब,
इन भूलों में ही बसता है।
कण भर हमदर्दी पाने को,
मूरख बे-तरह तरसता है।
जीवन भर रोता है उसको,
जिस एक घड़ी भर हँसता है।

उस एक घड़ी में ही मैंने,
अगनित अरमान सजाये थे।
सोने से सुन्दर सपनों में,
चाँदी से नगर बसाये थे।
आकाश न जिन तक पहुँच सके,
ऐसे प्रासाद बनाये थे।

ओ नीम!

इस तेरी छिदरी छाया ने,
दो बँधे हुए मन देखे हैं।
गत आगत जिनका भाग बनें,
कुछ ऐसे भी क्षण देखे हैं।
जिनके बदले में ठुकरा दूँ,
मैं शत शत जीवन, देखे हैं।
ओ नीम!

लेकिन इस दुनिया में उलफ़त,
तुलती है धन के तोलों में?
विष का सागर बल खाता है,
इसके दो मीठे बोलों में।
औ' शम्मी जैसी जाती हैं,
सोने के सुन्दर डोलों में।
ओ नीम!

उनके, जिनके दरवाज़ों पर,
सौ बैल जुगाली करते हैं।
दूध और दही से भोर हुए,
नित जिनके मटके भरते हैं।
औ' जिनकी सत्ता के आगे,
हम जैसे निर्धन डरते हैं।

भरपूर कोठियाँ हैं जिनकी,
ताज़ा औ' मीठे दानों से।
धन बहता रहता है निशि-दिन
जिनके पूरित खलिहानों से।
रखवाले ताका करते हैं,
जिनके मज़बूत मचानों से।

रे, उनके, जो हैं मीलों तक,
स्वामी उर्वरा ज़मीनों के।
जो सुन्दर नहीं, मगर फिर भी,
रहते हैं संग हसीनों* के।
जिनके महलों तक जाने में,
पर जलते हैं हम दीनों के।

ओ नीम!

* हसीनों = सुन्दरियों!

मैं देश विदेश फिरा, घूमा,
घायल दिल के बहलाने को!
दो फाहे इसके घावों पर,
दुनिया में कहाँ लगाने को!
औ' शान्ति किसी कोने में इस,
विस्तीर्ण जगत के पाने को!

पर शान्ति नहीं है चीज़ कि जो,
बाहर ढूंढ़े से मिल जाए।
पा कर पीड़ाओं का पानी,
कैसे उर अम्बुज खिल जाए?
क्या जान सकेगा वह, न कभी
पहलू से जिसका दिल जाए?

आशाएँ कितनी संचित कीं,
फिर उनको स्वयं बखेर दिया!
प्रासाद बनाये जो मैंने,
कर उनको ख़ुद ही ढेर दिया!
जो प्रेम जगत से पाया था,
चुप चाप उसे वह फेर दिया!

ओ नीम!

घायल उर लेकर गया, मगर
नासूर लिये अब आया हूँ!
जो दिल का दर्द बटा देता,
दिल खोज नहीं वह पाया हूँ!
इन रिसते घावों को लेकर,
अब तेरे द्वारे आया हूँ!

अब इन तेरी छायाओं में,
अपना गत जीवन ढूँढूँगा!
दिन स्वप्न बने हैं जो उनका,
स्मृतियों में स्पन्दन ढूँढूँगा!
जो जग ने छीन लिया मुझसे,
मैं अपना वह मन ढूँढूँगा!

ओ नीम, बता दे बस इतना,
वह यहाँ कभी फिर आई भी?
औ' दिल की कोई कथा तुझको,
है उसने कभी सुनाई भी?
औ आह कलेजे में बरबस,
है उसने कभी दबाई भी?

ओ नीम!

जा तू अपनी राह बटोही

जा तू अपनी राह बटोही !
गाता क्या जीवन के गाने ?
जीवन को तू क्या पहचाने ?
जा तू अपनी राह बटोही !

भौंरों सा रस लेता रहता
गाता फिरता तू राहों में।
रूप और रस राग भरी इन
जीवन की जल्वागाहों* में।

जहां गिरे पत्ते सड़ते हैं,
उन सायों को तू क्या जाने ?
तू क्या जीवन को पहचाने ?
जा तू अपनी राह बटोही !

---

*जल्वागाह = दर्शनीय स्थान

ऊपर ऊपर का दर्शन कर
जीवन-युक्ति सिखायेगा क्या ?
डूबा नहीं अतल तल में जो
रत्न भला वह लायेगा क्या ?

झूठे रत्नों से भर झोली
समझ इन्हें मत सच्चे दाने,
जीवन को तू क्या पहचाने ?
जा तू अपनी राह बटोही !

रिज पर

तुम पूछ रही हो बार बार
'तुम क्यों उदास ?'
तुम नहीं जानतीं, दर्निवार दुख
बन जाता—मेरा हुलास !

तुम कहती हो—देखो नभ के
नयनों में जगता सा विहान !
रँगता सा स्वर्णिम किरणों से
मिल कि चिमनी का मौन शिखर !
तुम नहीं देखतीं, जमा हुआ
यह गहन-धूम का जड़-वितान ।
औ' जागी जब दुनिया, जाते
सोने को ये कुछ तन जर्जर !

= *Ridge* = तीस हज़ारी दिल्ली के निकट पहाड़ी पर समतल चड़

यह सच है ओवर-कोटों की
गर्मी से गर्म हमारे तन।
इस सुप्रभात की आभा से
तन पुलकित है, आँखें विकसित।
उस पुल के नीचे देखे भी
कुछ ठिठुरे सिकुड़े से निर्धन,
ओढ़े गूदड़ से जीर्ण-शीर्ण
वर्षों की मैल लिये गर्हित।

यह सच है रिज की सड़कों पर
आँखें जाती हैं फिसल फिसल।
नव-दिन की नव नव आभा से
जीवन में आता है जीवन।
सब्जी मंडी में पास मगर,
मानव ढोते हैं भार विफल।
जीवन से ऊबी थकी हुई
गलियों में है दुर्गंध गहन।

औ' मेरी यह हमदर्दी भी
है भरे पुरे की एय्याशी,
धन बाँट नहीं सकता कुछ मैं
औ' ढांप नहीं सकता कुछ तन।
इस वर्ग-विषमता में डूबा
रहता हूँ सुख का अभिलाषी,
पर भर आता है कभी कभी
इस ऊँच नीच पर मेरा मन।

औ' अनायास उर से उठकर
ओठों पर आती है उसांस।
तुम पूछ रही हो बार बार
तुम क्यों उदास?





अश्क जी १९४२

दीप जलेंगे.

९४६ से जनवरी १९४७ तक

कौशल्या के नाम

तुम हो सुभगे,
मेरी सहचरि मेरी मंत्रिणि,
मेरे कर्म-क्षेत्र की संगिनि !

दीप जलेगा

अंधकार बढ़ता आता है !
घोर गहनतम अंधकार,
निर्ममता का निस्सीम ज्वार,
बढ़ता आता घन-अंधकार !

सरक रहा है,
भूधर से काले अजगर सा,
अंध-गुफा ऐसा मुँह फाड़े
धीरे धीरे,
पल पल,
क्षण क्षण,
मुझे लीलने !

बीहड़बन में, मृगशावक ज्यों,
देख अकेला !
नख अपने चुपचाप छिपाये,
पांव दबाये,
धीरे धीरे,
पल पल,
क्षण क्षण,
सरक रहा हो
हिंस्र बघेला !

या विस्तीर्ण-मरुस्थल में ज्यों,
संध्या-वेला !
सरक सरक चुपचाप निगलने
श्रान्त पथिक को,
क्लान्त पथिक को,
बढ़ता है दिशि दिशि से घिर कर
अमा-निशा के तम का रेला !
दुःसह, दुर्वह, दुर्निवार !
बढ़ता आता घन अंधकार !

बढ़ते आते अंधकार को देख प्राण तुम
चुप चुप मुझको देख रही हो !
देख रही हो—
सभी ओर से
जैसे घिरकर,
शत्रोरभिमुख
हो जाता है घायल मृगवर !
मैं भी सम्मुख
हो बैठा हूँ
महाकाल के
इस कंकाल देह को लेकर !

देख रही हो—
दाँत पीसकर,
शक्ति-शेष से,
तलछट तक मैं
अन्तर के घट का स्नेहासव
पिला रहा हूँ,
इस दीपक को
अंधकार से जूझ रहा जो !

देख रही हो—
मिट मिट कर जीने की मेरी प्रबल-साध को !
देख रही हो
प्रति पल गहरे होते आते तम-अगाध को !
औ' करुणार्द्र तुम्हारी आँखें
अंत सोचकर,
पीड़ा से भर,
घिरी घटा सी
उमड़ पड़ी हैं !

सखि, अपने ये आँसू पोंछो !
युग युग पहले के समाज में
बिकने वाली
नहीं प्राण तुम
क्रीता-दासी !
एक पुरुष के मर जाने पर,
सहज भाव से,
अनदेखे अथवा अनजाने

अन्य पुरुष की
सेवा में रत
हो जाती जो!

नहीं सती तुम पूर्वकाल की
संगी के देहावसान पर,
परिभ्रष्टावस्था को पहुँचे
स्नेह-भाव से होकर बेबस,
शव उसका गोदी में लेकर,
ज्वलित चिता पर
सो जाती जो!

नहीं प्राण, तुम बन्दिनि अबला!
क्रूर रीति की
संकुल, सम्वृत ज़ंजीरों में
जकड़ी अबला!
बाट पुरुष ही के आश्रय की प्रति क्षण तव
औ' बिन उसके
पथ ही पथ में
खो जाती जो!
तुम हो सुभगे,

मेरी सहचारि, मेरी मंत्रिणि,
मेरे-कर्म-क्षेत्र की संगिनि
पग से पग,
कंधे से कंधा,
सदा मिलाकर चलने वाली!
तुमसे तो यह आशा है यदि,
कर्म-क्षेत्र के धर्म-क्षेत्र में
आये भाग्य वीर-गति मेरे,
तो तुम मेरे गिरते कर से
ध्वजा छीनकर,
आँसू पीकर,
ओंठ भींचकर,
कदम बढ़ाती सैन्य-पंक्ति के
पग से पग,
कंधे से कंधा,
सतत मिलाती
बढ़ती जाओ!
सखि, अपने ये आँसू पोंछो!

धन्यवाद दो
अपना जीवन
मैंने,
बड़ी दीनता से दुम अपनी नित्य हिलाकर,
सोल्लास कर स्वामी के जूतों का चुम्बन,
किया न यापन !

धन्यवाद दो
अपना भोजन
मैंने,
नतमस्तक हो
थूंथी को धरती में देकर,
सूंघ सूंघ कर कूड़े के ढेरों के अन्दर
किया न अर्जन !

नाली के असंख्य कीड़ों की
प्रतिदिन, प्रति पल,
अंधी, गूंगी, बहरी, बुच्ची
किलबिल किलबिल
रही न मेरे क्रियाशील जीवन का स्पन्दन !

अपने वीर्यवान पुरखों सा,
स्वाभिमान से सिर ऊंचा कर,
उन हाथों से, देने को जो सदा अनुद्यत,
बरबस निज अधिकार छीन कर,
लड़कर नित्य अनाचारों से
काटे हैं भरसक मैंने चिर—
अन्ध-ज्ञान के अन्धकार के—
रुढ़ि-ग्रस्त मानव के बंधन !

जमा रहा मैं
ज्ञान-दीप ले।
चाहे लेकर,
अपना दल बल,
आये बादल
अन्ध-ज्ञान के बार बार !

बढ़ता आता घन-अन्धकार !
सरक रहा है,
भू-घर से काले अजगर सा,
अन्ध-गुफा ऐसा मुँह फाड़े,
मुझे लीलने !

किंतु नहीं है मेरे मन में भय का दंशन !
किंतु नहीं हैं मेरे तन में कम्पन सिहरन !
जीवन भर खा पीकर, सोकर,
बरबस बध को जाने वाले
मोटे पले हुए एड़क सी
नहीं हृदय की मेरे धड़कन !

तिल तिल मिटता हूँ मैं लेकिन,
नहीं छोड़ता—
कर्म-क्षेत्र के अपने स्थल को !
नहीं छोड़ता—
पांव जमाया है मैंने जो,
उसको अविचल स्तम्भ बनाना !
दिया जलाया है मैंने जो,
उसको अपने उर के स्वर का
स्नेह पिलाना !
पहुँचाना अपने इस स्वर को
समरांगण के कोटि कोटि उन योद्धाओं तक
मेरी भाँति जो

जगती के कोने कोने में
जूझ रहे हैं
अन्धकार से !

वही पुराना मेरे स्वर का
गर्जन तर्जन !
वही पुराना
मेरी वाणी का पैनापन !
वही पुराना
मेरे दीपक का उजला धन !

सखि, अपने ये आँसू पोंछो !

नहीं आज ही केवल हमने दीपक बाले !
नहीं आज ही केवल हम इस अन्धकार से लड़
हम से पहले पूर्वजों ने—
जब जब अन्धकार ने लेकर
अपना दल बल,
घेरे डाले—
दीपक बाले !

उनके पद-चिन्हों पर चलकर,
मैंने भी यह दीपक बाला!
स्नेह सदा अन्तर के स्वर का
इस जगते दीपक में ढाला!
मेरा स्वर तो कभी न काँपा,
दीपक की लौ कभी न काँपी,
अगनित पथिकों की राहों में
नन्हा यह आलोक अकम्पित
करता रहा सदैव उजाला!

भरता रहा निडर स्वर मेरा,
इस दीपक में स्नेह निरन्तर!
जब जब तम ने डाला घेरा,
चमक उठी लौ इसकी सत्वर!

दमक उठे जग के समराँगण,
सहस दीप दीपक से जल जल!
स्वर से मिले सहस स्वर तत्क्षण,
गमक उठे चंडी के पायल!

बढ़े वीर, उद्घोष प्रकम्पित,
अवनी, अम्बर !
रुढि - ग्रस्त सब त्रस्त,
हुए अस्थावर, स्थावर !

अन्धकार के वक्षःस्थल में,
चुभा तीक्ष्ण आभा का भाला !
घाव किया ऐसा हृत्तल में,
फैल गया आलोक निराला !

प्राण, हार कब हमने मानी,
तम में हममें युद्ध हुआ जब ?
गूँज उठी झट दूजी वाणी,
एक कंठ अवरुद्ध हुआ जब !

एक वीण बुझते ही जगते अन्य वीण के सहस तार

बढ़ता आता घन-अन्धकार !
सरक रहा है—
भूघर से काले अजगर सा,
अन्ध-गुफा ऐसा मुँह फाड़े—
मुझे लीलने !

बढ़ते आते अन्धकार से डरकर क्या मैं—
—चाहे अब यह रूप मृत्यु का घार, मुझे
ग्रसने आया है;
—चाहे अब शैथिल्य थके इन मेरे अंगों
पर छाया है ;
—चाहे जूझ-जूझ, लड़-लड़ कर
छलनी सी मेरी काया है;
बढ़ते आते अन्धकार से डरकर क्या मैं—
चुप हो जाऊँ ?
स्वर का अपने घोंट गला, मैं
दीप बुझा, आलोक मिटाकर,
क्या सो जाऊँ ?
खो जाऊँ इस महागर्त्त में ?
जिसकी कोई थाह नहीं है,
आर नहीं है,
पार नहीं है,
जिसके अन्धकार का भी तो,
कोई वारापार नहीं है।
हो जाऊँ इस महागर्त्त में

नाम-निशान-हीन बेगिनती
उन सोने वालों सा मैं भी ?
जो लम्बी गहरी परिखा में,
गिरनेवाले टिड्डी-दल के
बेगिनती बेबस टिड्डों से,
मौन रूप से, महागर्त में,
गिरते जाते
युगों-युगों से !

नहीं प्राण,
मैं मौन न हूँगा !
स्वर मेरा,
गर्जन मेघों का,
कड़क तड़ित् की,
लय उन्मत्त चढ़े सागर की
भर,
गायेगा !
जब तक अंतिम श्वास शरीर में,
अपनी वाणी
समरांगण तक पहुँचायेगा !

औ' यदि बढ़ता हाथ काल का
आकर मेरा गला मरोड़े !
कर मेरी वीणा क्षत-विक्षत,
सतत मुखर तारों को तोड़े !
महाकाल के,
महागर्त में,
चिर सोने वालों से मेरा
नाता जोड़े !
तो चाहे अग जग पर छानेवाला
मेरा स्वर मिट जाये,
किंतु प्राण ज्यों,
— कृष्ण पक्ष के
मसि-सागर को
चीर, उदित हो,
छाती चन्द्र-किरण है नभ पर;
— कोटि शिलाओं के नीचे से
दबी युगों से,
फूट निकलती है ज्वाला ज्यों
दबी न रहकर;
— भू का वक्ष तोड़कर अविचल

फूट निकलता
कल कल
निर्झर !
संगिनि, मेरे स्वर की दुर्धर
गूंज उठेगी !
महाकाल के
अन्धकार की
महाशिला को
भेद, उठेगी !
औ' अग जग पर छा जायेगी !
मेरे स्वर की अप्रतिहतता,
दुर्निवारता,
समरांगण तक पहुँचायेगी !

सखि, अपने ये आँसू पोंछो !

उसकी दुर्दमता में तुम भी
अपने स्वर की
गूंज मिलाना !

यह दीपक, जो मैंने बाला,
तुम भी इसमें
अपने स्वर का
स्नेह जलाना!
समर-भूमि में
रत जो साथी,
अपने दुर्दम स्वर से उनको
मेरे स्वर की
याद दिलाना!
औ' जब समय तुम्हारा आये,
अन्धकार दिशि दिशि से घिर कर, पल में
तुम्हें लीलना चाहे,
इस बालक को,
विस्मित, उत्सुक औ' उन्मन सा
पास तुम्हारे
मौन खड़ा जो,
दीपक देकर,

अन्धकार से लड़ने के सब भेद बताना !
समराँगण की राह दिखाना !

दीप जलेगा !
समराँगण के दीप जलेंगे !
अन्धकार से सतत लड़ेंगे !
